

**समय के साथ**

# समय के साथ

रमणिका गुप्ता

शब्दसृष्टि

दिल्ली-110092

ISBN : 978-81-88077-52-6

© रमणिका फाउंडेशन

**प्रकाशक**

**शब्दसृष्टि**

एस-658ए, गली नं. 7, स्कूल ब्लॉक,  
(निकट शीलता माता मंदिर), शकरपुर,  
दिल्ली-110092

**एकमात्र वितरक**

10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क,  
शाहदरा, दिल्ली-110032

**संस्करण** : 2010

**मूल्य** : 225.00

**आवरण-सज्जा** : उमेश शर्मा

**शब्द-संयोजक** : उमेश लेज़र प्रिंटर्स, दिल्ली

**मुद्रक** : रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032

## मैं अक्सर सोचती हूँ...

मैं अक्सर सोचती हूँ एक रचनाकार के तौर पर किसी देशकाल में मौजूद रहने के क्या मायने-मतलब हैं? समकालीन समाज, संस्कृति और राजनीति के प्रति हमारी क्यों जिम्मेदारियाँ और जवाबदेहियाँ हैं? इन जिम्मेदारियों और जवाबदेहियों से बचकर निकला जा सकता है? इस आखिरी सवाल का जवाब अक्सर 'न' में मिलता है। लेखक से पहले एक ट्रेड यूनियन कर्मी-राजनीतिकर्मी होने की वजह से भी यह संभव नहीं कि देश और समाज, संस्कृति और राजनीति से जुड़े ज्वलंत मसलों से किनारा काट कर 'राम झरोखे बैठ' सकूँ। एक ऐसे समय में जब भाषाई साम्राज्यवाद की जड़ें गहरी होती चली जा रही हैं, मशीनीकरण के शोर के बीच बेरोजगारी और गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों की तादाद लगातार बढ़ती जा रही है, आंदोलन और संगठन कमजोर पड़ते जा रहे हैं, जनमानस की भावना को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के दायरे में कैद किया जा रहा है, फासीवादी ताकतें हल्ला बोल रही हैं, श्रम का मूल्य न्यूनतम होता जा रहा है, दलाली का कौशल सोने के भाव बिक रहा है, दुनिया बदलने के सपने संशय के घेरे में आ गए हैं, जनतंत्र भीड़तंत्र में तब्दील होता जा रहा है और स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण किया जा रहा है ऐसे में चुप रहना अनेतिक ही नहीं अश्लील भी है। हालांकि बाजार के महाआनंद और चौबीसों घंटे चलने वाले भव्य उत्सव के आनंद और आतंक में सबको चुप कराने की व्यापक और व्यवस्थित तैयारियाँ जोर-शोर से की जा रही हैं। एक अंतर्राष्ट्रीय स्तर के सर्वेक्षण में यह बात सामने आई है कि भारत में 77% लोग भारत का मध्यवर्ग और उच्च मध्य विचरण कर रहा है। रोम जल रहा है, नीरो बांसुरी बजा रहा है। बावजूद इसके हम जानते हैं हमारा रास्ता 'पक्ष' नहीं 'प्रतिपक्ष' का है। हम जानते हैं शोषण, अन्याय, अत्याचार, अनाचार और गैरबराबरी के खिलाफ जंग जारी रहेगी। बतौर रचनाकार मैं अपनी जिम्मेदारियों और जवाबदेहियों से मुकर नहीं सकती। बाजार की नृशंस उत्सवधर्मिता का संताप मैं नहीं चाहिए। जैसा कि सुकरात ने कहा था मैं संतुष्ट सूअर होने की बजाए असंतुष्ट आदमी होना पसंद करूंगा और निःसंदेह हमारी, आजादी इस असंतुष्टि से यथास्थितिवाद खतरे में पड़ जाएगा।

इस पुस्तक में समय के साथ चलते हुए मैंने निरंतर अपनी सहमति-असहमति

दर्ज की है। इनमें ज्यादातर समय-समय पर 'युद्धरत आम आदमी' के लिए लिखे मेरे संपादकीय आलेख हैं, जिसमें समाज, संस्कृति और राजनीति से जुड़े अहम मसलो पर मैंने अपनी चिंतन-प्रक्रिया को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। मेा प्रयास कितना सफल रहा, यह तो अब आप तय करेंगे।

पुस्तक के संपादन में अनिल त्रिपाठी और संकलन में अभिषेक कश्यप ने सहयोग दिया, उसके लिए आभार छोटा शब्द है।

**रमणिका गुप्ता**

## अनुक्रम

1. भाषाएँ मरने से इनकार करती हैं	9
2. मशीनीकरण बनाम बेरोजगारी	15
3. ट्रेड यूनियन आन्दोलन	21
4. साहित्यिक आन्दोलनों, संगठन और रचनाकार	27
5. कामरेड बी. टी. आर. हमारे बीच हैं	37
6. प्रेम न बाड़ी उपजे	42
7. अभिलाषा और सपने का मरना ही बूढ़ा होना है	49
8. जनजातीय क्षेत्र में भाषायी अस्मिता आन्दोलन	53
9. राष्ट्रियता का दायरा	58
10. चोर-चोर मौसेरे भाई	66
11. कारगिल घटने ही क्यों दिया गया	69
12. इराक-युद्ध का अर्थशास्त्र	73
13. भारतीय संस्कृति बनाम हत्याओं की संस्कृति	78
14. मीडिया लोकतंत्र का खम्भा है या अभिजातों का	82
15. भय बिनु होई न प्रीति	85
16. आओ, साथ-साथ उड़ने की होड़ लगाएँ	89
17. समय, सवाल और सरोकार	91
18. श्रम की महत्ता	95

19. रंगभूमि : मुद्दे से अधिक राजनीति	101
20. फासीवादी साम्प्रदायिक ताकतों पर लगाम	106
21. बिरसा की तरह गाँधी लड़े या गाँधी की तरह बिरसा	110
22. तहलका भूकंप	114
23. जनतंत्र तौलने के बटखरे कितने सक्षम?	117
24. समाज की अन्तश्चेतना में अभी भी पुरुष शाउनिज़्म	126
25. स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण	131
26. नये कानूनों के दायरे	134
27. राजेन्द्र यादव को अपने चश्मे से न देखें	139
28. नरसंहारों की जड़ में ज़मीन या जाति	144
29. द्वार पर प्रतिक्रांति आ खड़ी हुई है	152
30. आजादी के पचास साल : आँखों में आँसू भी, होठों पर मुस्कान भी	155

## भाषाएँ मरने से इन्कार करती हैं

चन्द्रभान जी ने राष्ट्रीय सहारा के अपने एक कालम में प्रश्नों का उत्तर देते हुए सभी भारतीय भाषाओं की छुट्टी करके अंग्रेजी अपनाने का सुझाव दिया है। लगता है चन्द्रभान जी अंग्रेजों की दक्षता से इतने प्रभावित हैं कि शिक्षा के प्रश्न पर वे मैकाले को अम्बेडकर या बाबा फुले से भी बड़ा क्रान्तिकारी सिद्ध करने पर तुल गए हैं। इतना ही नहीं अब तो वे हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं को समाप्त कर अंग्रेजी को भारत की राष्ट्रीय भाषा बनाकर भोपाल दलित एजेंडे से भी आगे बढ़कर एक प्रगतिशील भारत बनाने का सपना पेश कर रहे हैं। उच्च जातियों का ज्ञान, उनका बाहुबल या उनकी दक्षता प्रायः दूसरों को ठग कर अपना हित साधने में ही इस्तेमाल होती आई है। अंग्रेजों ने भी अपनी भाषा को हमारे लिए अपरिहार्य बनाने की साजिश रची ताकि आम आदमी उन तक पहुँच ही न पाए और वे निर्बाध शासन करते रहें। इसमें भारतीय सवर्णों ने अपने हितार्थ उनका सहयोग किया। हर शासक अपनी भाषा कमजोर कौम पर थोप कर शासन करने में कामयाब होता है। विश्व के हर देश में यही होता आया है। यह सर्वविदित तथ्य है कि किसी कौम या देश को खत्म करने का सबसे अच्छा हथियार है उसकी भाषा को नष्ट करना। न्गुगी व थ्योंगों ने अपनी पुस्तक 'भाषा संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता' में भाषा के महत्व पर जोर देते हुए लिखा है कि "मेरे विचार से भाषा सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है जिसके जरिए आत्मा को वश में किया गया और उसे बन्दी बना लिया गया। शारीरिक गुलामी के लिए गोलियों को साधन बनाया गया लेकिन मानसिक और आत्मिक गुलामी भाषा के जरिए थोपी गई।"

'भाषा संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता' में न्गुगी व थ्योंगों ने औपनिवेशिक प्रणाली पर व्यापक प्रकाश डालते हुए कई उदाहरण पेश कर यह सिद्ध किया है कि भाषा ही संस्कृति और संप्रेषण की वाहक है और उसे खत्म करने से किसी देश की आत्मा को खत्म किया जा सकता है। वे कहते हैं "हम अपने साहित्य, संस्कृति तथा राजनीति में अंग्रेजी की अकाट्य स्थिति के 'भाग्य तर्क' को स्वीकार करने के निर्णय तक कैसे पहुँचे? 1884 के बर्लिन से 1962 के मैकरेरे होते हुए कौन-सा रास्ता था जो सौ साल बाद भी अपना प्रभाव तथा अधिपत्य जमाए हुए है? ऐसा क्यों हुआ कि हम अफ्रीकी लेखक अपनी भाषाओं के प्रति दावे जताने में इतने कमजोर हैं और



दूसरी के प्रति खासतौर से अपने उपनिवेशवासियों की भाषा के प्रति, इतने आक्रामक ढंग से अपने दावे जताते हैं?" यह प्रश्न उठाते हुए वे उसका विश्लेषण कर निष्कर्ष निकालते हैं कि "1884 का बर्लिन संगीनों और गोलियों से प्रभावित था। लेकिन जिस रात संगीनों का काम खत्म हुआ उसके अगले दिन से ही ब्लैक बोर्ड और चाक का काम शुरू हो गया। युद्ध भूमि की भौतिक हिंसा के बाद क्लास रूम की मनोवैज्ञानिक हिंसा शुरू हो गई। जाहिर है कि पहली हिंसा ऊपरी तौर पर ज्यादा बर्बर थी और दूसरी हिंसा परोक्षतः अत्यन्त विनम्र और सौम्य। लेकिन यह एक ऐसी प्रक्रिया थी जिसका वर्णन 'चेख हामिद काने' ने अपने उपन्यास 'एम्बीगुअस एंडवेंचर' में किया, जिसमें उन्होंने साम्राज्यवाद के औपनिवेशिक चरण के तौर तरीकों के बारे में बताया है। चेख हामिद काने कहते हैं "काले उपमहाद्वीपों को देखें तो यह बात समझ में आने लगती है कि उनकी तोपों की असली ताकत उस दिन महसूस नहीं होती, जब वे पहली बार गोले उगलती हैं बल्कि इन तोपों का काम खत्म होने के बाद जो कुछ शुरू होता है उससे उनकी ताकत का अहसास होता है। इन तोपों के पीछे नए स्कूलों की नींव होती है। नये स्कूलों की प्रकृति में दोनों चीजें हैं तोपों के गुण भी हैं और चुम्बक के भी। तोपों के जोर से इसने फतह हासिल की लेकिन अपनी इस फतह को टिकाऊ रूप देने के लिए इसने शिक्षा का सहारा लिया। तोपों से शरीर पर अधिकार किया और स्कूलों से आत्मा पर।"

दरअसल यही त्रासदी भारत के साथ भी घटती रही है। पहले आर्यों ने यहाँ आक्रमण कर अपनी संस्कृति लादी और अपनी भाषा। उनके आने से पहले ही यहाँ आस्ट्रिक ग्रुप के आदिवासी रहते थे जिनकी भाषाएँ सांधाली, मुंडारी आदि थीं शोधों द्वारा यह स्थापित हो चुका है कि आर्यों से पहले यहाँ भारत के मूल निवासी सभ्यता के शिखर पर पहुँच चुके थे और उनकी अपनी विकसित भाषाएँ भी थीं। मुंडारों का मोहन जोदाड़ो इसका प्रमाण है। उनकी भाषाओं के कई शब्द वेदों में भी पाए जाते हैं। फिर विभिन्न हमलावर आते रहे और देश में अपनी संस्कृति का अपनी भाषा के जरिए विस्तार करते रहे। इस प्रकार यहाँ बाहरी और भीतरी दोनों का समिश्रण होकर एक 'संकर' संस्कृति पैदा हुई जो विभिन्न जातियों एवं वर्णों में बँट गयी। अंग्रेजों ने आकर उस संकर संस्कृति को अपने ढंग से अपने हितार्थ परिभाषित किया। उन्होंने अंग्रेजी के माध्यम से देश के प्रभावशाली वर्ग को अपने कब्जे में किया। यह इस देश का सवर्ण या अभिजात शासक व सामंत वर्ग था। देसी शासकों को विदेशी शासकों के साथ गठबंधन करना रास आया। उन्होंने अंग्रेजी सीखी और लिखनी शुरू की चूँकि उस भाषा के माध्यम से वे करोड़ों लोगों पर परोक्ष व अपरोक्ष रूप से राज कर सकते थे। वैदिक काल से ही शासकों की भाषा अलग रही जिसके माध्यम से वे यहाँ भारत के आम जन पर शासन करते रहे। आजादी के बाद भी इसी मानसिकता वाले वर्ग ने सभी भारतीय भाषाओं को पनपने नहीं दिया और अंग्रेजी

को सत्ता और व्यापार की भाषा के रूप में स्वीकार कर रोजगार से जोड़ दिया। इस प्रकार हमने उसकी सुपरिमेसी में और इजाफ़ा कर दिया। यह ज्ञान की भाषा न रहकर रोजगार की स्टेटस की भाषा के रूप में खड़ी हो गई।

इसी दौरान दलित आदिवासी पिछड़ी या अन्य सवआल्टन जमातों में अपने अधिकारों का अहसास जगा और वे भी जीने के लिए मनुष्यता की शर्तों की माँग करने लगीं और देश की राजनैतिक अर्थिक व सामाजिक स्थिति में बराबरी का दर्जा माँगने लगीं। चूँकि ये जमातें शिक्षा से ही वंचित रहे गई थी इसलिए आजादी के बाद डॉ. अम्बेडकर द्वारा सविंधान में प्रदत्त अधिकारों के जरिए उनमें जो शिक्षित पीढ़ी आई, जो अपने बाकी समाज से आगे निकल गई। दुर्भाग्यवश इस पीढ़ी का आदर्श वे अभिजात सवर्ण ही बन गए जो अंग्रेजी के माध्यम से उन पर शासन करते थे। अंग्रेजों के जाने के बाद भी भारतीय सवर्ण अभिजात मानस अंग्रेजी तथा गोरी चमड़ी का प्रभुत्व भुला नहीं पाया। दलित वर्ग भी उसी ग्रन्थि का शिकार था चूँकि वह आज तक खुद को सवर्ण मानसिकता के चंगुल से मुक्त नहीं कर पाया। वह भी सवर्ण शासक व धनिक वर्ग की वर्चस्ववादी संस्कृति के प्रभाव में उससे जुड़ गया जबकि वह सामाजिक न्याय तथा जाति के प्रश्न पर उसके विरोध में खड़ा था। इसी विरोध के चलते ही बाबा साहब द्वारा बनाए सविंधान प्रदत्त अधिकारों के बल पर यह वर्ग अपनी वर्तमान समृद्ध व शासक स्थिति में पहुंचा। समानता, भाईचारा व आजादी तथा श्रमण संस्कृति एवं अपनी भाषाओं की बजाय यह वर्ग अवसरवादी गठबन्धन कर शासक बनकर स्वयं सत्ता सुख भोगने के चक्कर में पड़ गया और अपने बच्चों या अपने सगे-संबन्धियों के रोजगार के लिए अंग्रेजी भाषा का समर्थक बन बैठा। यह वर्ग जानता है कि उसके समाज के असंख्य दलित बंधु शिक्षित नहीं हैं। अपनी उस विशाल जमात को भूल कर यह वर्ग चन्द धनिक दलितों के हितार्थ अंग्रेजी का पैरोकार बन गया। यही सब तो सवर्ण शासक वर्ग भी आज तक करता आया है। तभी तो भारत में भाषा विवाद होते रहे हैं और उसी के आधार पर भौगोलिक बटवारे भी। हिन्दी का विरोध अहिंदी क्षेत्रों में होता रहा है। हिन्दी भाषी अंग्रेजीदां नौकरशाही ने हिन्दी को संस्कृतनिष्ठ करके इतना दुरूह बना दिया कि उसे जनभाषा, सम्पर्क भाषा व तकनीकी भाषा बनने ही नहीं दिया। वही लोग अपने बच्चों को अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ाते रहे और जनता को राष्ट्रीय भाषा पढ़ने का उपदेश देते रहे। लेकिन राष्ट्रभाषा को उसके काबिल बनने देने में बाँध रहे, जिसके कारण न वह राजेगार भाषा बन सकी और न राष्ट्र ने उसे स्वीकारा। सहभागी भारतीय भाषाओं के समक्ष उसे शत्रु रूप में खड़ा कर दिया गया। उसे एक समूह व धर्मावलम्बियों की भाषा बना दिया गया यानी हिन्दुओं की भाषा हिन्दी।

आज जब दलित समाज इस पूरी मानसिकता के खिलाफ अपनी संस्कृति अपनी अस्मिता अपने आत्मसम्मान तथा साहित्य को अपनी भाषा में चाहे वह कितनी

भाषाएं मरने से इनकार करती हैं

भी अनगढ़ व रूखड़ी (Crude) क्यों न हो, अभिव्यक्त करने में सक्षम हुआ है ताकि वह सत्य को अपनी अनभूति को अपने यथार्थ को सही ढंग से प्रस्तुत कर अपने समाज को जागरूक कर सके परिवर्तन लाकर समानता, भाईचारे और आजादी से लैस एक जाति-विहीन मानवीय समाज बनाने में सफल हो सके। आश्चर्य तो तब हुआ जब उसी वर्ग का एक नेतृत्वकारी तबका सवर्णों, अभिजातों और शासकों की बोली बोलने लग गया है।

अफ्रीका में भी ऐसा ही हुआ था। वहाँ भी जब उनकी भाषाओं को ही खत्म करने की मुहिम शासकों ने चलाई तो स्वयं कतिपय अफ्रीकी साहित्यकारों एवं बुद्धिजीवियों का एक बड़ा वर्ग अपनी भाषा में लिखना बोलना हेय मानने लगा। फलस्वरूप अपनी भाषा में बोलने वाले अफ्रीकी को हिकारत की नजर से देखा जाता और दण्ड दिया जाता था और अंग्रेजी में बोलने वाले अफ्रीकन को पुरस्कार। जब ऐसी स्थिति आई तो 1977 में वहाँ के नामी साहित्यकार न्गुगी व थ्योंगो ने अंग्रेजी में साहित्य न लिखने का संकल्प लिया और अपनी भाषा 'गिकुयू' में लिखना शुरू किया। इस भाषा को वहाँ के किसानों, मजदूरों ने संभालकर रखा था। गिकुयू में लिखे गए उनके नाटकों व उपन्यासों के चलते वहाँ एक क्रान्तिकारी विचारधारा का विकास हुआ। अफ्रीका में तो जो साहित्य अंग्रेजी में लिखा गया उसे अफ्रीकी साहित्य ही नहीं माना जाने लगा, चूँकि वह जन का साहित्य नहीं बल्कि उपनिवेशियों के प्रभाव में लिखा गया साहित्य था। आज यह अवधारणा वहाँ के जन-जन में व्याप्त है। अफ्रीकी साहित्य केवल अफ्रीकी भाषाओं, व किसानों मजदूरों की भाषा में ही लिखा जा सकता है। दलित साहित्य भी इसी अवधारणा को मानता है। अपने अनुभवों के आधार पर अपनी भाषा और शैली में लिखा साहित्य ही दलित साहित्य है। तब दलित साहित्य के रचनाकार किस आधार पर भारतीय भाषाओं की को खत्म कर, देश में केवल अंग्रेजी ही पढ़ाए जाने के पैरोकार बन रहे हैं? इस प्रकार तो उनकी अपनी 'अस्मिता' ही समाप्त हो जाएगी। तब आत्मसम्मान कैसे पनपेगा? आत्मसम्मान नहीं होगा तो सवर्ण मानसिकता को चुनौती कौन देगा? दरअसल उपनिवेशवादी प्रणाली यही है कि उसके आधीन जनता अपनी संस्कृति को हिकारत की नज़र से देखने लगती है और उपनिवेशियों की संस्कृति का गुण-गान करने लगती है और उनकी भाषा को अपना लेती है। अफ्रीका के उपनिवेश व अंग्रेजीपरस्त साहित्यकारों तथा बुद्धिजीवियों की तरह ही आज चन्द्रभान जी ने अंग्रेजी की पैरवी करनी शुरू कर दी है। वे अपनी भाषाओं को हिकारत की नज़र देखने लगे हैं और मैकाले को भारत का हितैषी सिद्ध करने में जुटे थे उनकी इस अंग्रेजी परस्ती से लगता है कि वे मैकाले को डॉ. अम्बेडकर व बाबा फूले से भी बड़ा क्रान्तिकारी सिद्ध करके छोड़ेंगे। चन्द्रभान जी ने 'कथादेश' के अप्रैल, 2003 के अंक में छपे अपने आलेख में यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मैकाले ने भारतीय जनता के लिए उनकी

अपनी भाषाओं में ही शिक्षा पर जोर दिया था। मैकाले की शिक्षा नीति या अंग्रेजों का शिक्षा अभियान भारतीयों के हितार्थ था अथवा अंग्रेजों के अपने हितार्थ यह विवादास्पद हो सकता है लेकिन यह सही है कि अंग्रेजों ने दलितों, स्त्रियों एवं आदिवासियों की शिक्षा के दरवाजे खोल दिए थे, भले उसमें प्रवेश के लिए दलितों को संघर्ष करना पड़ा था। डॉ. अम्बेडकर और बाबा फूले ने इन खुले दरवाजों पर दलितों का हक जमाकर एक बड़ा क्रांतिकारी काम किया था। लेकिन बाबा साहब ने या बाबा फूले ने अपनी भाषाओं को कभी नहीं नकारा। आप अंग्रेजी क्या फ्रेंच पढ़ें! जर्मन पढ़ें, ज्ञान अर्जन करें अपने व्यक्तित्व का विकास करें लेकिन पूरे समाज पर अंग्रेजी थोप कर उनमें सवर्ण व वर्चस्ववादी प्रवृत्तियों व रूझानों को न बढ़ाएँ, जिससे उनकी आजादी, समानता व बन्धुता के सपने खतरे में पड़ जाएँ। आज भारत में करोड़ों लोग अंग्रेजी के पास फटकने के भी काबिल नहीं हैं। फिर उनकी अपनी भाषाओं को ही आगे बढ़ाने की बात हम क्यों न करें? अफ्रीकी बुद्धिजीवियों व लेखकों द्वारा अंग्रेजी के समर्थन में कसीदे पढ़ने पर न्यूगी ने कहा कि “यह प्रभुत्ववादी प्रणाली की अन्तिम विजय है जिसमें गुलाम लोग खुद विजेताओं का गुणगान करने लगे हैं।” चन्द्रभान जी भी शायद उसी ग्रन्थि से पीड़ित हो गए प्रतीत होते हैं।

हम अपनी भाषाएँ खत्म कर अंग्रेजी को अपना लें, इससे बढ़कर खतरनाक सोच और क्या हो सकती है? आप अंग्रेजी सीखिए ज़रूरी है रोज़गार के लिए, लेकिन अपनी भाषा को छोड़कर क्यों? वैसे भी किसी एक भाषा को बहुभाषी भारतीय समाज पर थोपना एक फासिस्ट एजेन्डा है, चाहे वह अंग्रेजी हो या हिन्दी।

किसी भी कौम या देश को खत्म करने का सबसे बड़ा और अच्छा हथियार है उसकी भाषा को नष्ट करना।

क्या चन्द्रभान जी यही चाहते हैं?

आन्दोलन तो यह होना चाहिए कि हमारी भाषाओं को रोज़गार की भाषा बनाओ पर चन्द्रभान जी कह रहे हैं भारतीय भाषाओं को मिटाओ। कांग्रेस ने नारा दिया था ‘गरीब हटाओ’। पर गरीबी हटाने की जगह गरीबों को ही हटाया जाने लगा। अपनी भाषा हटाने और अंग्रेजी लाने की मुहिम शुरू कर रहे हैं चन्द्रभान जी। दुनिया में अनेकों देश हैं जो अपनी ही भाषा से कामकाज चलाते हैं वे अंग्रेजी जानते भी नहीं। बजाए साम्राज्यवादी सोच या विचारों की खिलाफत करने के, वे अपनी ही भाषा के खात्मे की बात करने लगे।

यह सही है कि सवर्ण तबका या अभिजात वर्ग दोहरी बात करता है। वह अपने लिए तो अंग्रेजी, लेकिन दूसरों के लिए मातृभाषा की बात करता है। हमें उसकी यह चाल समझनी होगी। लेकिन उनकी प्रतिक्रिया में अपना ही मुंह नोच लेना कहाँ तक सही है? अपनी ही भाषा खत्म कर उनसे बड़े अंग्रेजी दां बनने की चाह यह आत्मघाती सोच है। अपनी भाषाओं को बरकरार रखते हुए भी हम अंग्रेजी

या अन्य भाषाएँ सीख सकते हैं। दलितों की त्रासदी तो यह है कि उन्हें साक्षर ही नहीं होने दिया गया। अधिकांश दलित अंग्रेजी तो दूर की बात, हिन्दी या किसी प्रान्तीय भाषा या अपनी मातृभाषा को 'कखारे' से भी परिचित नहीं है। फिर अंग्रेजी में उन्हें शिक्षा क्या शिक्षा से ही वंचित करना नहीं होगा? यह सर्वविदित है कि मातृभाषा की पढ़ाई सरल होती है। बच्चा मातृभाषा में पढ़ता है तो उसे केवल लिपि सीखनी होती है, लेकिन अंग्रेजी सीखने का अर्थ होगा लिपि और बोली दोनों सीखना जो भिन्न-भिन्न भी हैं और इसके परिवेश से बाहर भी। यह उसके बूते के बाहर हो जाएगा, चूँकि उसके घर का परिवेश भी अलग होता है। अंग्रेजी स्कूलों में उनके जाने की औकात नहीं है। वे तो मातृभाषा के प्रान्तीय भाषाई स्कूलों तक में भी नहीं जा सकते और चन्द्रभान जी सबको अंग्रेजी पढ़ाने की बात करते हैं। न्गुगी ने लिखा है 'अफ्रीकी भाषाओं ने मरने से इन्कार किया।' इन भाषाओं व अफ्रीका की इन राष्ट्रीय विरासत को, किसानों ने जिन्दा रखा। दलितों, आदिवासियों व अन्य वंचित समाजों के सामने ये चुनौती है कि वे अपनी भाषाओं को जिन्दा रखें और विकसित करें, क्योंकि ये भाषाएँ मजदूर-किसानों व दलितों की अस्मिता से जुड़ी हैं और हमारा अनुभव ये बताता है कि भाषाएँ भी मरने से इन्कार करती हैं।

## मशीनीकरण बनाम बेरोज़गारी

भूमण्डलीकरण यानी 'समूचा विश्व एक गांव' वह उदार आर्थिक नीति के सिद्धान्तों को मानकर भारत सरकार द्वारा उद्योगों में नई तकनीक के नाम पर अंधाधुंध मशीनीकरण की नीति अपनाई जा रही है। निजी क्षेत्र में भी पूंजीपतियों को विभिन्न छूटें, विदेशी मुद्रा तथा आयात की रियायतें देकर भारत सरकार इस नीति को योजनाबद्ध तरीके से लागू कर रही है, जिसके चलते रोजगार के अवसर बड़े पैमाने पर समाप्त हो रहे हैं। औद्योगीकरण का प्रथम लक्ष्य, विशेषकर सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पादन रहा है, जिसमें उत्पादकता और गुणवत्ता के साथ-साथ रोजगार देना भी शामिल है। भारत जैसे विकासशील देश में उत्पादन के साथ-साथ रोजगार के अवसर बढ़ाकर ही, यहाँ की आर्थिक-व्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है अन्यथा बेरोजगारों की क्रयशक्ति-विहीन बड़ी जमात विकास के हर प्रभाव को निगलती चली जाएगी।

सच तो यह है कि भारत की औद्योगीकरण की नीति अपने सभी मकसदों में फेल हो गई, खासकर रोजगार के मकसद में। उत्पादन, उत्पादकता व गुणवत्ता में भी यह अपने लक्ष्य से दूर ही रही है। तालाबंदी, बीमारी व बंदी की शिकार हजारों इकाइयों के कारण, जहाँ उत्पादकता में कमी व रुकावट आती है तथा बेरोजगारी बढ़ती है, वहीं दुरुह व मंहगी मशीनें अपनी क्षमता के अनुसार काम न लिए जा सकने के कारण उत्पादकता पर असर डालती हैं। इसके चलते लागत मूल्य तो बढ़ा ही है, एक मजदूर पर कुल खर्च भी बढ़ गया है और देश का आर्थिक ढांचा भी चरमरा गया है। चूँकि ये मशीनें और तकनीकें बाहर के देशों से लाई जाती हैं, इसलिए हमारे देश का विदेशी मुद्राकोष कुल जमा-पूँजी के अनुपात में, लाभ दिए बिना रिक्त हो गया है और देश कर्ज के फंदे में फँस गया है। इसीलिए सरकार विश्व बैंक व अर्नाष्ट्रीय मुद्रा-कोष के मजदूर-विरोधी निर्देश मानने के लिए बाध्य है।

आज भी बिजली के थर्मल पावर स्टेशन अपनी क्षमता भर उत्पादन नहीं कर पाते। कोल इंडिया में भी इतनी अधिक नई तकनीक लाने के बावजूद भी उत्पादन लक्ष्य घटा दिया गया। कोल इंडिया में घाटा लगने के कारणों में एक प्रमुख कारण नई मशीनों और नई तकनीकों का पूरा उपयोग न कर पाना तथा उनकी क्षमता के अनुसार काम न लिया जा सकना भी है। दूसरी तरफ शारीरिक श्रम के नियोजन

पर पाबंदी है। इसके चलते वास्तविक उत्पादन भी घटा और गुणवत्ता भी कम हुई है। टारगेट पूरा करने के लिए मिट्टी के ढेरों पर कोयला डालकर नापी करवा देना और कोल डिपो में आग लगवा कर कोयले की क्षति दिखा देना, कोल कंपनियों में आम बात है।

सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थानों में 1987-88 में 21 प्रतिशत संस्थानों ने अपनी क्षमता से 50 प्रतिशत कम उत्पादन किया और 45 प्रतिशत में 75 प्रतिशत से कम संस्थान थे। निजीकरण और बाजारीकरण के लिए केवल 5 प्रतिशत में 75 प्रतिशत से उपर उत्पादन हुआ है। इनमें बिरले ही ऐसे थे जिन्होंने शत-प्रतिशत उत्पादन किया। 1980 से 1986 तक तो इससे भी अधिक अनुपात में क्षमता से कम उत्पादन होता रहा है। यह भूमण्डीकरण के लिए जमीन तैयार करने की साजिश थी। नई तकनीक के नाम पर स्टील-इस्पात, कोयला, कपड़ा, जूट, आदि उद्योगों में नई-नई मशीनें लाई जा रही हैं, जिसके कारण लाखों मजदूर अतिरिक्त करार कर दिए जा रहे हैं जिनमें अकुशल और कुशल मजदूर भारी संख्या में हैं। छंटनीग्रस्त मजदूरों में लगभग आधी महिला-मजदूर हैं। जब भी नियोजन का मामला आता है तो अतिरिक्त मजदूरों का 'हौवा' दिखाकर सरकार व उसके भारी मशीनीकृत संस्थान, नियोजन करने में अपनी मजबूरी जाहिर कर देते हैं। इस प्रकार एक तरफ तो मजदूरों के सिर पर छंटनी की तलवार लटका दी जाती है पर दूसरी ओर धीरे-धीरे उन्हें कई योजनाओं, जैसे स्वैच्छिक सेवा-निवृत्ति, गोल्डेन शेक हैंड द्वारा योजनाबद्ध तरीके से छंटनी भी किया जाता रहता है। बीमार इकाइयों के नाम पर भी छंटनी की प्रक्रिया जारी है। सरकारों में, खासकर राजीव गाँधी सरकार की औद्योगिक नीति का मुख्य आधार आधुनीकीकरण, विदेशी मुद्रा की छूट, लघु-उद्योगों में दी हुई सुविधाएं रद्द या लागू करके बन्द हो जाने के हालात पैदा करना है। इसके साथ-साथ सरकार का उद्देश्य इजारेदारों, बड़े घरानों, निजी उद्योगों को विकसित करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्रों को आर्डर न देकर, निजी क्षेत्र के उद्योगों अथवा विदेशी कंपनियों को बड़े-बड़े भारी आर्डर देकर प्रोत्साहित करना भी रहा है। इस प्रकार सरकार स्वयं अपने अधीनस्थ सार्वजनिक क्षेत्रों के संस्थानों को घाटे तथा निकम्मेपन के लिए मजबूर कर, बदनाम करती है, जबकि वह स्वयं ही बेरोजगारी, गरीबी और मजदूर जमात के शोषण का कारण होती है। इस नीति के कारण रोजगार के अवसर ही समाप्त कर दिए जा रहे हैं।

निजी उद्योगों का मुनाफा और परिसंपत्ति बढ़ रही है। आगे आनेवाले दिनों में ऐसे संस्थानों, विशेषकर सार्वजनिक संस्थानों में केवल अत्यधिक कुशल मजदूरों की ही भर्ती किए जाने की व्यवस्था होगी। अर्धकुशल और अकुशल मजदूरों का तो नामोनिशान नहीं रहेगा। इसका प्रभाव सामाजिक एवं आर्थिक रूप से पिछड़े दलित/आदिवासियों/पिछड़ों और अल्पसंख्यक जमातों एवं महिलाओं के समानियोजन

या भर्ती पर सर्वाधिक पड़ेगा। उन्हें न तो साधारण ट्रेड में प्रशिक्षित व पुनर्प्रशिक्षित करने की व्यवस्था है और न ही नान-ट्रेडीशनल ट्रेड में जो मशीनीकरण के चलते अधिक पनप रहे हैं, आनेवाले दिनों में और अधिक बढ़ेंगे। इतना ही नहीं सार्वजनिक क्षेत्रों में, खासकर कोयला और टेक्सटाइल में महिलाओं की योजनाबद्ध तरीके से छटनी की जा रही है। जब कोई नई मशीन लाई जाती है, तो नियोजित महिला मजदूरों को उनके लिए प्रशिक्षित करने का प्रयास तो दूर, इस दिशा में कुछ सोचा ही नहीं जाता। बिना उनकी राय जाने ही प्रबंधन तय कर लेता है कि उस काम पर महिलाएँ नहीं ली जानी चाहिए अथवा कह देता है कि महिलाएँ उस काम पर खुद ही नहीं जाना चाहती। दरअसल सरकार की मंशा महिलाओं को कार्यस्थल पर या अन्य संस्थाओं में भेज कर प्रशिक्षित करने की कभी नहीं रही। डॉक्टर इंजिनियर या पायलट, आई. ए. एस., आई. पी. एस., जहाँ ऊँचे वर्गों की महिलाएँ जा सकती हैं या शिक्षिका, टेलीफोन-ऑपरेटर, क्लर्क, नर्स, एटेंडेंट जहाँ मध्यम वर्ग की महिलाएँ खप सकती हैं, के लिए सरकारी, गैर-सरकारी नियोजन स्थल पर शिक्षण-प्रशिक्षण के इंतजाम हैं किंतु कथित निम्न-वर्गों से आने वाली महिलाएँ, जो खदानों, कारखानों व कपड़ा मिलों में काम करती हैं को फिटर, हैल्पर, इलेक्ट्रीशियन, शावल-ऑपरेटर, पम्प-खलासी, शाट-फायरर, ड्राइवर, डम्पर ऑपरेटर, मशीन-मैन, स्पिण्डलर, बीवर आदि के लिए सरकार की तरफ से शिक्षण-प्रशिक्षण का कोई प्रबंध नहीं है। कार्य-स्थलों पर भी उन्हें प्रशिक्षित करने की कोई योजना नहीं है। इसलिए उनके लिए न तो पदोन्नति का स्कोप है और न ही मशीन और नयी तकनीक आने पर नियोजन में खपाने का।

भारत की कोयला व अन्य खदानों में अनपढ़ व अकुशल महिला मजदूर, क्वारी माइनर, मिट्टी पत्थर ढोने वाली बोझाड़ियाँ एवं वैगन लोडर, शेलपिकर, दाइयाँ, पानी व सफाई करने वाली जनरल मजदूर, आजकल सिक्योरिटी के रूप में कार्यरत तो हैं लेकिन ऊँची कैटेगरी में केवल पुरुष मजदूर ही कार्यरत हैं। इन पदों पर भी अब स्त्री-कामगार नहीं मिलेंगी। अब तक केवल सी.सी.एल. के नार्थ कर्णपुरा क्षेत्र में एक महिला शावल ऑपरेटर बन पाई है और हजारीबाग क्षेत्र में एक शावल पर ई.पी. हैल्पर बनी है। इसी प्रकार कपड़ा उद्योग में स्त्री सप्लाई-मजदूर व दुलाई मजदूर तो मिलेंगी पर स्पिंडल, बीवर के पदों पर नहीं। विदेशों में महिला बीवर हैं। भारत के पास अन्य ऊँची कैटेगरी के ट्रेडीशनल व नान-ट्रेडीशनल काम लेने की योजना ही नहीं है, जबकि ये सभी काम महिलाएँ भी कर सकती हैं। कोयला खदानों में तो यहाँ तक कहा जाता है कि चूँकि वे साड़ी पहनती हैं, इसलिए उन्हें पंप अथवा मशीन चलाने के काम पर रखना संभव नहीं है। औरतों से तो यह पूछा तक भी नहीं जाता कि वे सलवार कमीज़ पहनने को भी तैयार हैं या नहीं। पूछने से पहले ही पुरुष-प्रधान प्रबंधन का फैसला हो जाता है कि वे ऐसी पोशाक नहीं पहनेंगी। इस प्रकार



मशीनीकरण और नई भूमि के अभाव में तकनीक का हथौड़ा पहले महिलाओं के पेट पर ही चोट करता है और देश की आबादी के बड़े तबके को बेरोजगार रखने का माध्यम बनता है।

हाथ-करघा उद्योग में जहाँ वे सूत कातने का अर्ध-कुशल कार्य करती हैं, वहीं ऊंची श्रेणी के कलात्मक डिजाइन के कपड़े बुन व कढ़ाई-सिलाई कर, पोशाकें तैयार करने का काम भी करती हैं, जिसे इन्होंने परंपरा व वंश विरासत में सीखा है। लेकिन भारत में भारी मशीनों के नाम पर स्त्री-कामगारों को बाहर कर दिया गया है। यहाँ के सब-ट्रेड औरतों के लिए उपयुक्त नहीं कह कर, चर्चा ही समाप्त कर दी जाती है। कोयला उद्योग में जब पे-लोडर व शावल लायी गई तो एक तरफ ठेकेदारी मजदूर हटा दिए गए, जिनमें भारी संख्या में गांव के बेरोजगार छोटे-मंजोले किसान, दलित, आदिवासी तथा अधिकांश महिलाएं ही होती थीं, दूसरी तरफ स्थायी मजदूर भी या तो अतिरिक्त करार कर दिए गए अथवा नई परियोजनाओं में भेज दिए गए। इस प्रकार नई योजनाओं में जहां रोजगार के नए अवसर थे भी वहां पुराने अतिरिक्त मजदूर भर दिए गए। दूसरी तरफ पुरानी योजनाओं में पद समाप्त कर नियोजन के अवसर ही समाप्त कर दिए गए और छटनी कर दी गई। अब तो कोयला उद्योग में ड्रैगलाइन आ गई है जो चौबीस घंटे में साढ़े सात हजार मजदूरों का काम कर सकती है। नार्दन कोल फील्ड लिमिटेड, सिंगरौली की जयंत परियोजना में कोयला ढुलाई का काम करने के लिए जो मशीन बैठाई गई है, वह अपनी पूरी क्षमता पर काम करेगी तो चौबीस घंटे में तीस हजार टन कोयला ढोएगी, जो लगभग दस हजार मजदूर प्रतिदिन ढोते। हालांकि इस मशीन से उसकी क्षमता भर काम नहीं लिया जा रहा पर इस मशीन के काम पर लगते ही, लगभग डेढ़ हजार मजदूर काम से हटा दिए गए। लोडिंग का काम प्रायः औरतें ही अधिक करती हैं। छोटा नागपुर व विलासपुर में उनके रोजगार का मुख्य आधार ही खत्म हो रहा है। बिहार में अब वैसी ही मशीनें बैठाई जा रही हैं, जो हजारों लोगों को बेरोजगार कर चुकी हैं या कर रही हैं।

दूसरी तरफ ऐसी मशीनें ओपन-कास्ट (खुली खदान) में, जो खनन की विस्तृत प्रणाली पर आधारित हैं, ही इस्तेमाल होती हैं, जिसके लिए बड़े-बड़े भूखंडों का उपलब्ध होना ज़रूरी है। ये भूखंड गाँव में छोटे-मंजोले किसानों की ज़मीन जबरिया अधिग्रहण कर के लिए जाते हैं, जिससे स्त्री-कामगार एवं बेरोजगार विस्थापितों की एक बड़ी जमात खड़ी होना लाजिमी है। खनन विकास की एक सतत् प्रक्रिया है जिसके लिए ज़मीन का अधिग्रहण ज़रूरी है। इन परियोजनाओं के लिए भी सरकार ने जमीन ली पर विस्थापितों का पुनर्वास नहीं किया। फलतः विरोध हुआ, आंदोलन हुए और कई स्थानों पर परियोजनाएं या तो चलने ही नहीं दी गई या पूरी तरह नहीं चल पाई। करोड़ों रुपए की मशीनें बेकार पड़ीं रहीं, जिन्हें एक-दो वर्ष बाद दूसरे

स्थानों पर ले जाना पड़ा। अगर ये परियोजनाएं अर्ध-मशीनीकरण की प्रणाली से चलाई जातीं तो रोजगार के अवसर विस्थापितों को भी मिलते, खदानें भी चलतीं और उत्पादन भी बढ़ता लेकिन सरकार और उसकी नौकरशाहों को तो मशीनें लाने की पड़ी है, चाहे वह हमारे देश के लिए उपयोगी हों या नहीं। एक तरफ कोल इंडिया के अध्यक्ष श्री टंडन ने 1986 में मशीनीकरण के नाम पर ई.सी.सी.एल. तथा बी.सी.सी.एल. में एक लाख मजदूर अतिरिक्त घोषित किए और टाटा के इस्को ने साढ़े सात हजार मजदूर, दूसरी तरफ भूगर्भ परियोजनाओं में कोल इंडिया ने नई मशीनें मंगाकर 'एक मजदूर सभी काम' का फार्मूला लागू कर काम लेने की योजना तैयार कर दी, जिससे नए मजदूरों के समायोजन की संभावना ही खत्म हो गई।

भूमण्डलीकरण प्रक्रिया में मशीनीकरण का एक मकसद उत्पादन एवं उत्पादकता बढ़ाना है तो वहीं उत्पादन मूल्य में कमी करना भी है। इनमें कुछ उद्योगों को छोड़कर भारत के सार्वजनिक क्षेत्र में मशीनीकरण फेल हो गया है, विशेषकर सार्वजनिक संस्थानों में। निजी संस्थानों में उसकी कामयाबी का लाभ पूँजीपतियों को अतिरिक्त मुनाफे के रूप में मिला है लेकिन जनता को न तो सस्ते दामों पर और न ही प्रचुर मात्रा में उत्पादित माल उपलब्ध कराया गया। रोजगार तो मिला ही नहीं। सरकारी संस्थानों में जहाँ मशीनीकरण कामयाब हुआ है, वे ऐसे उद्योग हैं, जहाँ शारीरिक श्रम से कार्य होना संभव ही नहीं था, जैसे प्राकृतिक तेल, एटामिक एनर्जी आदि। कोयला में तो कोल इण्डिया को उत्पादन का टारगेट ही घटाना पड़ा। गुणवत्ता भी खराब हुई सो अलग। इतने अधिक मशीनीकरण के बावजूद कोयला में एक शिफ्ट में एक मजदूर की कोयला काटने की कार्यक्षमता (C.M.S.) भी उस अनुपात में नहीं बढ़ पायी जिस अनुपात में कुल पूँजी लगाई गई। दुरुह तकनीक के कारण कोलियरियों में कई मशीनें डिब्बों से बाहर ही नहीं निकलीं, कई तो लगी पर चलीं नहीं। कई चलीं पर एक बार जो टूटी तो फिर उनकी मरम्मत ही नहीं हुई। कहीं-कहीं तो इन मशीनों की मरम्मत पर हुआ, खर्च नई मशीन के दाम से दुगुना-तिगुना बढ़ गया। इनके रख-रखाव और मेंटेनेंस में इतना अधिक समय और धन व्यय हुआ कि लाभ की बजाय नुकसान अधिक हो गया। कोलियरी की इकाई स्तर पर में सोलह-सोलह डंपरों में से बारह-चौदह डंपर, चार शावलों में से दो-तीन शावल, दो ड्रिलों में से कभी एक, तो कभी दोनों ड्रिलें, दो-तीन डोजरों में से प्रायः एक या दो डोजर, हफ्तों-महीनों तक खराब पड़े रह जाते हैं पर कभी पार्ट न मिलने के कारण तो कभी पार्ट खराब हो जाने के कारण और कभी या गलत आ जाने के कारण, कभी मरम्मत करने वाले इंजीनियर के न आने के कारण दुरुस्त ही नहीं हो पाते। इन सब कारणों से सार्वजनिक क्षेत्र में घाटा भी लगता है, जिसके लिए मजदूर दोषी नहीं, बल्कि प्रबन्धन, व्यवस्था और उसकी नीति दोषी हैं।

विस्थापितों की समस्या का समाधान किए बगैर किसी भी परियोजना का

पनपना कठिन है। सरकारी संस्थान की नौकरशाही, बदइंतजामी वाली नीति अपनाती है, जिसमें एक तरफ तो परियोजना सफल नहीं होती और दूसरी तरफ बेरोज़गार विस्थापितों की बढ़ती जमात सतत आंदोलन पर उतारू रहती है जिससे सारा क्षेत्र अशांत रहता है। बड़ी-बड़ी मशीनें इसलिए इस्तेमाल नहीं हो पातीं चूँकि पुनर्वास की किसी स्पष्ट नीति के अभाव में परियोजना के लिए किसान इन्हें अपनी ज़मीन ही उपलब्ध नहीं कराते। किसानों की जमीन अधिग्रहण के बावजूद भी बिना खेती किए पड़ी रहती है। किसान खेती की बजाय आन्दोलन में उलझ जाता है। इस प्रकार जनता और मशीन दोनों काम नहीं कर पाते या उनके लिए काम उपलब्ध नहीं हो पाता। वे बेरोज़गार रह जाते हैं। यही है मशीनीकरण यानी सबकी बरोजगारी। फिर मशीनीकरण क्यों?

## ट्रेड यूनियन आंदोलन

साधारणतया ट्रेड यूनियन आंदोलन मजदूर-वर्ग को उनके हकों-हितों तथा जीवन यापन के न्यूनतम साधनों को हासिल कर उनके कार्य और कार्यस्थल को सहज और सरल बना कर उन्हें संतुष्ट करने का प्रयास करता रहा है, हालाँकि कुछ प्रतिबद्ध ट्रेड यूनियनों का लक्ष्य मजदूरों को केवल आर्थिक लाभ ही उपलब्ध कराना नहीं है बल्कि राजनीतिक, सामाजिक क्रांति करने के लिए मजदूरों को अगुआ दस्ता बनाकर, सत्ता पर काबिज होना भी है ताकि मजदूर किसान का राज्य आए और बराबरी, भाईचारा, आजादी हासिल की जा सके।

हम विश्व स्तर पर देखें चाहे भारत में, अधिकांश श्रमिक यूनियनों लंबे अर्से से केवल मजदूरों के आर्थिक संघर्ष तक ही सीमित रही हैं। इधर फिर से पुनर्विचार चल रहा है कि केवल आर्थिक सवाल हल करने से ही, बोनस या वेतन बढ़ा देने से ही मजदूरों का कल्याण नहीं होगा बल्कि उनके सर्वांगीण विकास के साथ-साथ उनकी देश के प्रति जवाबदेही भी होनी चाहिए।

यदि हम इतिहास में थोड़ा पीछे लौटें तो देखेंगे कि पुरा-औद्योगिक युग के पहले जो दास या गुलाम थे, वही लोग परा-औद्योगिक युग में मजदूर या कामगार बने। जब वे कृषि मजदूर थे, तो वे खेत, जमीन या जमीन के मालिक से बंधे हुए थे। वे उनके बंधुआ मजदूर और दास दोनों ही थे। वे एक मालिक का काम या कार्यस्थल को छोड़कर, दूसरे के यहाँ नहीं जा सकते थे। इसके विपरीत मजदूर और कामगारों को ये हक था कि वे एक कारखाने से दूसरे कारखाने में जा सकें। ये सामंतवाद पर पूंजीवाद का विकास तो था लेकिन मजदूरों की आर्थिक स्थिति बहुत ही शोचनीय थी। मजदूरों की कोई हैसियत ही नहीं थी। उन्हें केवल जीने भर की मजदूरी ही मिलती थी। काम के कोई घंटे निर्धारित नहीं थे। अठारह से लेकर बीस घंटे तक मजदूरों से काम लिया जाता था। उनकी शिक्षा की बात तो दूर, उनके स्वास्थ्य की भी चिंता मालिकों सहित किसी को नहीं थी। बिना आराम, बिना इलाज, नंगे-भूखे रहकर खटते-खटते टी.बी. आदि कई बीमारियों के शिकार होकर मर जाते थे। न सेवानिवृत्ति की कोई आयु निर्धारित थी, न मजदूर बनने की कोई न्यूनतम आयु। बाल मजदूर से लेकर अति वृद्ध मजदूर तक जो मालिक को मुनाफा पहुँचा सकते थे, उनसे काम लिया जाता था।

सुरक्षा का कोई इंतजाम नहीं था चाहे गैस भरी खदानें हो या धुएं से भरे कारखाने या धूल से भरे कार्यस्थल पर मजदूरों को तो काम करना ही होता था। कार्यस्थल को सुलभ, स्वच्छ या काम के लायक बनाने, मजदूरों को खतरों से दूर रखने की व्यवस्था करने की किसी को चिंता नहीं थी। लक्ष्य था केवल मुनाफा। मुनाफे के लिए उत्पादन। उत्पादन के आगे मजदूरों की जिंदगी की कोई कीमत नहीं थी। मजदूरों के लिए मकान का तो सवाल ही नहीं था। वह अमानवीय स्थितियों में, कंगाली के हाल में, अस्तबल में घोड़ों की तरह या किसी बंद दड़बे में सूअर की तरह ठूस दिए जाते थे। अगर बहुत हुआ तो खुले आकाश के नीचे फुटपाथ या गन्दे नालों के किनारे ही बसा दिए जाते थे।

इन्हीं सब अमानवीय परिस्थितियों के खिलाफ ट्रेड यूनियन आंदोलन आया। मार्क्स ने ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस में इन सब स्थितियों को जाँचा-परखा और कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र में मजदूरों की अगुआ दस्ते की भूमिका की कल्पना की। उसी समय के आसपास अमेरिका के शिकागो शहर में मजदूरों ने श्रमिक संघ के माध्यम से आठ घंटे काम, आठ घंटे आराम और आठ घंटे मनोरंजन तय करने की लड़ाई छेड़ी। गोली चली, मजदूर मरे, नेता फांसी चढ़े लेकिन आठ घंटे की इस लड़ाई ने विश्व में एक भूचाल पैदा कर दिया और अंतोतगत्वा पूंजीपति, कारखाना मालिक, सरमाएदार, व्यवस्था और सरकारों को इसे मानना पड़ा, हालांकि पिछड़े देशों के असंगठित मजदूरों में अभी भी यह लड़ाई जारी अधूरी है। इस प्रकार ट्रेड यूनियन आंदोलन ने विश्व में मजदूरों को सोने का, आराम करने का तथा बच्चों के साथ हंसने-खेलने और तफरीह करने का समय उपलब्ध कराया। जानवर की सी स्थिति से निकाल कर, उसे आदमी होने का अहसास कराया। इससे बड़ा कल्याण मजदूर जमात का और क्या हो सकता था? प्रत्येक वर्ष की पहली मई आज उन्ही कुर्बानियों की याद में मनाई जाती है। ट्रेड यूनियन आंदोलन के फलस्वरूप विश्व में ऐसे कई देश हैं और कुछ भारत में भी जहाँ काम के घंटे पांच कर दिए गए हैं।

ट्रेड यूनियनों ने दूसरी बड़ी लड़ाई औरत-पुरुष कामगारों या मर्द-मर्द कामगारों को समान काम के लिए समान मजदूरी की लड़ी थी हालांकि यह जंग अभी भी अधूरी है। इससे मजदूरों का एक बहुत बड़ा तबका, खासकर औरतों का, लाभान्वित हुआ।

ट्रेड यूनियन आंदोलन ने ही मजदूरों को न्यूनतम वेतन, सेवा अवधि, सेवा-शर्तें, भविष्यनिधि, ग्रेच्युटि, सेवानिवृत्ति बौनेफिट आदि की सुविधा उपलब्ध कराई; भले ही यह संगठित क्षेत्र में ही लागू हैं, असंगठित में नहीं। इससे काम करने वाले मजदूरों के एक बहुत बड़े तबके का जीवन स्तर ही नहीं उंचा उठा बल्कि उससे जुड़े समाज के अन्य तबके भी लाभान्वित हुए। मजदूरों को एक मानसिक और शारिरिक सुरक्षा का एहसास भी मिला।

सामाजिक सुरक्षा की लड़ाईयां भी ट्रेड यूनियनों ने ही शुरू कीं, जिसमें मातृ-प्रसूति, पेंशन केस तथा असंगठित मजदूरों के लिए (ई.एस.आई.) योजना एवं संगठित मजदूरों के लिए अस्पताल आदि की व्यवस्था उपलब्ध करा दी गई। यह केवल संगठित क्षेत्र में ही नहीं, जहाँ ट्रेड यूनियन आंदोलन मजबूत है बल्कि असंगठित क्षेत्र में भी लागू है।

सुरक्षा के नियमों की मांग मनवाने का सेहरा भी ट्रेड यूनियनों के माथे पर ही है। पहले तो खदानों में मजदूर दबकर मर जाते थे, न जूता, न टोपी, न रोशनी, न बत्ती, न गैस से बचने का प्रबंध, न धूल से, न धुएँ से हिफाजत, न वैज्ञानिक खनन के तरीके। गैस भरी खदानों में मजदूर घुट-घुटकर मर जाते थे या जल जाते थे कोई पूछने वाला नहीं होता था। मजदूर के नाम ही हाजरी-बही या भुगतान के खातों में दर्ज नहीं होते थे। ट्रेड यूनियन आन्दोलनों के कारण ही सुरक्षा मजदूरों के हाजरी, पहचान-पत्र, के नियम बने तथा खदानों में जूता, टोपी, रोशनी, बत्ती के इन्तजाम हुए। धूल के लिए कार्यस्थल पर पानी का छिड़काव और धुएँ के लिए गुड़ देने की व्यवस्था दस्ताने, वर्दियाँ, पानी की बोतलें सब उपलब्ध कराने के नियम काफी बाद में बने। यह सब हुआ ट्रेड यूनियन आंदोलन के कारण। ट्रेड यूनियन जहाँ सशक्त हैं, वहीं ये नियम लागू हुए हैं या हो रहे हैं अन्यथा आज भी नियम बनने के बावजूद ये सुविधाएँ मजदूरों को उपलब्ध नहीं होतीं।

मजदूरों के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, बिजली, पानी तथा उनके रहने के लिए आवास का प्रबंध करने की बाध्यता भी प्रबंधन, मालिक, व्यवस्था या सरकार ने ट्रेड यूनियन के आंदोलन के दबाव कारण ही महसूस की। आज शिक्षा के लिए प्राथमिक स्कूल से लेकर हाई स्कूल, कॉलेज और टैक्नीकल संस्थान भी यूनियनों के दबाव के कारण प्रबंधन को बनाने पड़ रहे हैं और कई औद्योगिक संस्थानों या इकाइयों में तो मजदूरों के बच्चों को अनुदान, वजीफा तक भी दिया जाने लगा है।

आज ट्रेड यूनियन के कारण ही प्रबंधन को उन्हें अपने मुनाफे में हिस्सेदारी देने का प्रावधान स्वीकार करना पड़ा और बोनस, प्रॉफिट शेयरिंग बोनस, प्रोत्साहन-बोनस (इंसेंटिव) एवं उत्पादन बोनस के कानून बने। यह कदम भी मजदूरों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने में मददगार हुआ है।

यह सही है कि ट्रेड यूनियनों के माध्यम से मजदूरों के आंदोलन, अधिकांश संगठित मजदूरों के लिए ही होते हैं और यह आंदोलन मजदूरों द्वारा चलाए जाते हैं लेकिन इसका प्रभाव दूरगामी होता है और पूरे समाज के लिए होता है। उपरोक्त रूप से ये छोटी-छोटी स्वरोजगार की इकाइयों को जन्म देते हैं और इन आन्दोलनों की तीव्रता असंगठित मजदूरों को भी संगठित होने की प्रेरणा देती है। कहीं-कहीं संगठित मजदूर ही असंगठित मजदूरों की अगुआई कर आन्दोलन छोड़ देते हैं। उदाहरणार्थ केदला-कुजु

कोलफील्ड (हजारीबाग) और सिंगरौली कोयला क्षेत्र के मजदूरों ने आस-पास के ठेकेदारी मजदूरों व विस्थापित किसानों की लड़ाईयां लड़ी है।

ट्रेड यूनियन आंदोलन चाहे वह आर्थिक लाभ के लिए हो या राजनैतिक सामाजिक बदलाव के लिए अंतोतगत्वा वह मजदूरों को संतुष्ट, सुखी, खुशहाल, जागरूक व चैतन्य बनाने के लिए होता है। मजदूर संतुष्ट होता है, तो उसका असर उत्पादन पर भी पड़ता है। उत्पादन की मात्रा ही नहीं बढ़ती बल्कि उसकी गुणवत्ता भी बढ़ती है। संतुष्ट मजदूर समाज के विकास का सबसे मजबूत स्तंभ होता है। मजदूर जब यूनियन में संगठित होता है, तो उसकी चेतना का स्तर भी बढ़ता है। वह अपने जीवन स्तर को ऊंचा उठाने की स्पर्धा में भाग लेने लगता है। शिक्षा के प्रति उसकी रुचि जगती है और वह शराब, जुआ, कर्ज आदि की बुरी आदतों से मुक्ति पाने का प्रयास करने लगता है। यूनियनों भी उसमें मददगार हो सकती हैं। हालांकि इस दिशा में अभी भारत में यूनियनों अधिक कारगर साबित नहीं हुईं। वे अभी भी मांग के रूप में ही इन सब सवालियों पर संघर्ष कर रही हैं। व्यक्तिगत स्तर तक संपर्क व साझेदारी करके वे मजदूरों के जीवन स्तर को सुधारने का प्रयास नहीं करतीं। यूनियनों, प्रबंधन या सरकार से जो अधिक से अधिक प्राप्त कर सकें, इसी पर ज्यादा जोर देती हैं। अपने स्तर पर मजदूरों में व्याप्त विकृतियों को दूर करने के उपाय वे संभवतः इस डर से नहीं करतीं कि कहीं उनकी सदस्यता घट न जाए। इसके लिए जरूरत है यूनियनों के अपने स्तर पर एक 'कोड ऑफ, कंडक्ट' बनाने की।

जो यूनियनों प्रबंधन या सत्ताधारियों के इशारे पर चलने लगती हैं या संकीर्ण आधारों पर भाषा, धर्म, जाति, क्षेत्र, रंग आदि के आधार पर मजदूर एकता भंग करने लगती हैं, वे अपनी कल्याणकारी भूमिका खो देती हैं। वे प्रभावहीन तो हो ही जाती हैं, साथ-ही-साथ वे मजदूरों की संगठित शक्ति को भी बांटकर उसे कमजोर कर देती हैं। वे मजदूर को भी भीरु, समझौता-परस्त, कायर और अवसरवादी बना देती हैं, यहाँ तक कि उन्हें जातीय संकीर्णता या धर्मांधता की तरफ ढकेल देती हैं, जिससे उनका मूल अस्तित्व यानी मेहनतकश श्रमिक होने का दावा ही गौण पड़ जाता है।

ट्रेड यूनियन आंदोलन के बल पर व्यवस्था एवं पूंजीपतियों को विश्व में झुकना पड़ा और मजदूरों को उनका उचित हक ही नहीं बल्कि जीने के लिए उचित वातावरण वेतन, सेवा-शर्तें, सुरक्षा नियम, सामाजिक सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास भी मुहैया कराने पड़े, यह कैसी विडम्बना है कि वे सारी सुविधाएं असंगठित क्षेत्र के विशालकाय मजदूरों को आज भी उपलब्ध नहीं हैं?

समाज में भी इसका व्यापक असर पड़ा है। अधिक संगठित क्षेत्रों में यूनियनों ने न केवल मजदूरों के हित के लिए बल्कि उनके परिजनों, आश्रितों एवं अगल-बगल के ग्रामीणों और विस्थापितों के लिए भी संघर्ष कर कई कल्याणकारी योजनाएं बनाने में सफलता हासिल की है।

हजारीबाग, धनबाद एवं बंगाल की कोयला खदानों के इर्द-गिर्द हजारों विस्थापितों को यूनियनों ने संघर्ष द्वारा ही नौकरी दिलाई। आज खदानों के निकट के गाँवों में शुरू की गयी कल्याण योजनाएँ उसी का परिणाम है। आज एक-एक क्षेत्र में सात-आठ लाख रुपया कोल इंडिया इस मद में दे रही है। हजारीबाग और रांची के नार्थ कणपुरा में इसकी शुरुआत हमारी कोलफील्ड यूनियन (सीटू) और धनबाद और बंगाल में, सीटू से सम्बद्ध यूनियनों के नेतृत्व में यह आंदोलन शुरू हुए।

वास्तव में मजदूरों का कल्याण तो तब समझा जाएगा जब वह एक शिक्षित, स्वस्थ, चैतन्य, जागरूक, राजनीतिक चेतना से लैस होकर, अपने स्तर के साथ-साथ, अन्य गिरे तबकों व असंगठित मजदूरों को उनके हक दिलाने, उत्पादन को बढ़ाने एवं देश के विकास में अपनी भूमिका निभाने के दायित्व को भी समझते हुए प्रबंधन में सक्षम भागीदारी करने लगेंगे। “देश के निर्माण के अगुआ हैं” का अहसास उन्हें क्रांतिकारी भूमिका अदा करने के लिए प्रेरित कर सकता है। कालान्तर में वे भ्रष्टाचार और श्रेणीबद्ध असमानता की व्यवस्था को उलटने के लिए एक प्रतिबद्ध जमात का रूप भी ले सकते हैं।

अभी इस दिशा में यह आंदोलन पीछे है हालांकि हाल के दिनों में इधर भी ध्यान दिया जा रहा है और उन्हें एक साझे मंच पर लाने की कोशिश हो रही है। कोलफील्ड लेबर यूनियन तथा धनबाद और बंगाल में सीटू की यूनियनों ने विस्थापितों और किसानों के पुनर्वास व नौकरियों और कल्याण के मामले उठाए आंदोलन किए और उनके सवाल हल करवाने में पहल की। कोलफील्ड लेबर यूनियन द्वारा सुप्रीम कोर्ट में विस्थापितों एवं किसानों के मामले पर याचिकाएं दायर करने में किसानों का सहयोग किया, जिस पर कोयला कम्पनियों ने किसानों को नौकरियां दीं और सरकार ने मुआवजे की दर में संशोधन किए।

अंत में कोयला खदानों में यूनियनों के संघर्ष के फलस्वरूप जो कल्याण योजनाएं चलायी गईं, उनके कुछ उदाहरण देना चाहूंगी। कोल इंडिया में मजदूरों की कल्याण योजना के लिए अलग से यूनियन प्रतिनिधियों को लेकर एक बोर्ड गठन किया गया, जिसमें कल्याण का बजट अलग से निर्धारित होता है। 1974-75 में ये बजट 6.10 करोड़ का था, 1991-92 में 113.19 करोड़ का हुआ, जब ये क्षेत्र असंगठित था तो 287 शिक्षा संस्थान थे, अब 1154 हो गए। पहले कंपनियों की तरफ से शिक्षा मद में एक पैसा खर्च नहीं होता था, अब कम्पनियां प्रतिवर्ष 4 करोड़ खर्च करती हैं। अब छात्रों के वजीफे की राशि 4.5 लाख रुपए प्रति वर्ष है। मजदूरों के रहने के घरों की व्यवस्था उस समय 21.7 प्रतिशत थी, वह बढ़कर अब 53 प्रतिशत हो गई यानी एक लाख अठारह हजार, तीन सौ छयासठ से बढ़कर अभी घरों की संख्या तीन लाख तिरपन हजार नौ सौ तीन है। ये मजदूरों की संगठित शक्ति यानी ट्रेड यूनियन आंदोलन से ही उन्होंने अपने विभिन्न वेतन समझौते के



माध्यम से हासिल किया है। दुर्भाग्यवश सरकार द्वारा उदारीकरण और निजीकरण की नीति अपनाए जाने के बाद ये कोयला कम्पनियां कल्याण व शिक्षा मद में अब दिनोंदिन कमी करती जा रही हैं। हालांकि ट्रेड यूनियन आन्दोलन से मजदूरों की स्थिति में काफी सुधार हुआ पर ये 'राहत' के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। क्रान्तीकारी बदलाव लाने के लिए ट्रेड यूनियनों को अपना ढर्रा और कार्यशैली बदलनी होगी।

## साहित्यिक आन्दोलन, संगठन और रचनाकार

आन्दोलन चाहे साहित्यिक हो या सांस्कृतिक अथवा आर्थिक-राजनैतिक, यह तो निर्विवाद है कि आन्दोलन और संगठन के पीछे कोई न कोई विचार ज़रूर होता है और जहाँ विचार होता है वहाँ पक्ष-विपक्ष भी मौजूद रहता है। इसलिए पक्ष लेना ज़रूरी होता है। साहित्य का विचार पर आधारित होना अनिवार्य होता है चूँकि विचार नहीं तो साहित्य में रह ही क्या जाएगा। इसलिए साहित्यकार को भी पक्ष लेना ही पड़ता है।

साहित्यिक आन्दोलनों और संगठनों का रचनाकार पर प्रभाव जानने के लिए इतिहास में हमें दूर नहीं जाना पड़ेगा चूँकि 19वीं सदी में जो भी प्रभावकारी अथवा सकारात्मक साहित्य रचा गया, वह आन्दोलनों से ही प्रभावित रहा है और आन्दोलन संगठन के आधार पर ही चलते हैं। यह ज़रूरी नहीं कि सभी आंदोलन या संगठन आज की परिभाषा में क्रान्तिकारी या व्यवस्था विरोधी हों। वे प्रतिक्रान्ति या व्यवस्था परक भी हो सकते हैं। दोनों में अंतर स्वरूप का नहीं, उद्देश्य और लक्ष्य का होता है। यह अन्तर वैसा ही होता है जैसा यथास्थितिवादी और परिवर्तनकामी सोच का होता है। वैश्वीकरण के इस युग में आज यही हो रहा है। व्यवस्था विरोधी आंदोलन के विपरीत एक आंदोलन चलाया जा रहा है, जो परिवर्तन की भाषा बाजार के बटखरों पर तौल रहा है और साहित्य को वस्तु तथा साहित्यकार या रचनाकार को उत्पादक बनाकर सृजन का अर्थ बदल दे रहा है। अतीत में भी दरबार या राजाश्रय रचनाकारों को चाटुकार या भाट-मांड में बदल देते थे। शृंगार या छद्म शौर्य के विरोध में ही शायद भक्ति आन्दोलन चला था या प्रेम को रहस्यवाद का चोला पहनाया गया था ताकि मांसलता की अति समाप्त की जा सके।

साहित्य संगठनों से भी प्रभावित होता रहा है। इसका प्रमाण भी हमें इन्हीं सदियों में मिल जाता है। पेशतर इसके कि मैं इन सदियों के उदाहरण आपके समक्ष प्रमाण स्वरूप पेश करूँ, यह बताना भी ज़रूरी है कि अतीत में भी साहित्य, संगठन और आंदोलन से प्रभावित होता रहा है। पूरा भक्ति-साहित्य भक्ति-आंदोलन की ही देन है। दरबारी साहित्य जो शृंगार या वीर-साहित्य को प्रोत्साहित करता रहा, भी एक व्यवस्था यानी संगठन का ही रूप था। दरबार अपने में एक संगठन था। तथाकथित स्वांत-सुखाय रचनाकार भी या तो दरबार से जुड़े रहे अथवा किसी न किसी प्रकार

के आंदोलन से। उनका प्रारूप आज की तरह बदलाव के लिए संघर्ष न होकर, यथास्थिति अथवा प्रतिक्रांति हेतु युद्धमुखी होता था। दरबारों में चन्द्रबरदाई ने शौर्य गाथाएँ लिखीं, तो गांव में देश-प्रेम से प्रेरित होकर आल्हा-उदल भी रचा जाता रहा। पूरा का पूरा लोकसाहित्य सामाजिक आंदोलनों अथवा समस्याओं या व्यवस्थाओं से जुड़ा होता है, व्यक्तियों से नहीं। हाँ, आज जब मनुष्य सामूहिकता छोड़कर व्यक्तिवादी ईकाई के तौर पर खुद को अलग-थलग, चाहे विशिष्ट अथवा हीन के रूप में मानता है, तो वह अपनी कुंठाओं का रोना रोता है या दम्भों का बखान करता है। यह भी आज की परिस्थितियों में पैदा हुआ एक रुझान ही है। इसे भी नितान्त व्यक्ति-आधारित नहीं कहा जा सकता। जब राजतन्त्र के किले ढहने लगे, तो पूंजीवाद, सामन्तवाद, समाजवाद अथवा समतावाद भी आंदोलन के रूप में 19वीं सदी में हमारे सामने आए।

इसलिए मेरी मान्यता है कि रचनाकार हर हालत में आंदोलन व संगठन से प्रभावित होता रहा है। कुछ लोग इसे आन्दोलन ने कहकर, परिस्थितियां भी कहते हैं। लेकिन यह भी तो सत्य है कि परिस्थितियां ही आन्दोलन पैदा करती हैं और संगठन बनाने को बाध्य करती हैं। मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति सामूहिक ही होती है, भले सभ्यता ने उसके व्यक्ति को इतना विस्तृत कर दिया कि वह इकाई में बदल गया और व्यक्ति ही प्रमुख बन गया है।

### **रचना की पक्षधरता व प्रतिबद्धता**

आन्दोलनों से पैदा हुई रचना में पक्षधरता और समाज के प्रति जिम्मेवारी लाजिमी होती है। कल्पना से पैदा हुई रचना में मुक्त उड़ान उड़ती है जो कवि की अनुभूतियों और सपनों की उड़ान भी होती है। लेकिन इसके विपरीत कभी-कभी निष्पक्षता की आड़ में लेखक अपने निजी स्वार्थ की सीमा छू लेता है। जिस प्रकार स्वतः स्फूर्त और जीवन से प्रेरित रचना कभी छद्म नहीं हो सकती, उसी तरह रचना का पक्षधर होना हमेशा नारेबाजी नहीं होता। पक्षधरता, प्रतिबद्धता का ही रूप होती है और इसकी नाड़ समाज या आन्दोलन से जुड़ी होती हैं। प्रतिबद्धता या आन्दोलन न नारेबाजी होता है न ही रस्मी। साहित्य में छद्म साहित्य या नारेबाजी तभी आती है जब लेखक चुक जाता है अथवा उसकी प्रतिबद्धता रस्मी बन जाती है। संवाद से लेखन जीवन्त बनता है और परस्पर संवाद ही प्रायः व्यक्ति या समूह की पहचान को रूप देता है। आज का यह युग ही अस्मिता निर्माण या अस्मिता स्वीकार का संघर्ष है, जो सदियों से उपेक्षित वर्गों व वर्णों तथा वर्चस्ववादियों व साम्राज्यवादियों के बीच चला आ रहा है। यह वंचित और सम्पन्न के बीच समानता के लिए, गुलाम और मालिक के बीच मुक्ति व आजादी के लिए, स्त्री और पुरुष के बीच बराबरी के लिए, मनुष्य और मनुष्य के बीच भाईचारे के लिए सपनों, अभिलाषाओं और

अपेक्षाओं का संगठित आन्दोलन है, जो किसी न किसी विधा में उभरता रहा है और आज भी उभरा है।

### 19वीं सदी के आन्दोलन

हम 19वीं सदी से ही शुरू करें 19वीं सदी में बड़े-बड़े आंदोलन हुए। राजा, महाराजाओं, नवाबों, सुलतानों के युग के बाद औद्योगिक युग की शुरुआत हुई, तो पहला आंदोलन फ्रांस में समानता, भाई-चारा और आजादी के नारों के साथ राजशाही के खिलाफ हुआ। फिर चली राजशाही, सामन्तशाही और पूंजीवाद के विरुद्ध समाजवादी व्यवस्था लाने के लिए मुहिम जो रूसी क्रांति में बदल गई। अमेरिका जैसे देश में गुलाम मुक्ति के लिए गृहयुद्ध हो गया तो उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध विश्व के कई देशों में स्वतंत्रता आंदोलन हुए और विश्व में एक से एक ऐसे कालजयी रचनाकार पैदा हुए, जो इन आंदोलनों की कोख से ही जन्मे थे। पाबलो नेरूदा, गोर्की, तालस्ताय, चेखव, गदर, वरवरराव आदि। इस युग में सबसे बड़ा आंदोलन तो चला मनुष्य को केंद्र में लाने का और जैसे ही मनुष्य केंद्र में आया, मानवता की धारा बह निकली और मनुष्य के श्रम की महत्ता बढ़ गई। औरत और मजदूर के हक की बात आन्दोलन का मुद्दा बन गई। इसके लिए लोग फाँसी पर चढ़ गए। रचनाकार इन आन्दोलनों के पैरोकारों ही नहीं, अगुआ और प्रवक्ता भी बन गए। प्रगतिवादी, जनवादी, साहित्य अपनी बुलंदी पर पहुँच गया। साहित्य जब मनुष्य की पहचान और स्वाभिमान पर अथवा उपेक्षित जमातों पर केंद्रित हुआ तो स्त्री-मुक्ति, काला साहित्य और भारत में दलित-आदिवासी साहित्य का जन्म हुआ। प्रगतिवादी, जनवादी यदि समाजवाद के साहित्यिक प्रवक्ता थे तो स्त्रीमुक्ति साहित्य या दलित साहित्य व आदिवासी साहित्य अस्मिता के साहित्य बनकर उभरे। जो जमातें सदियों से परजीवी बनाकर रखी गई थीं, अपने स्वाभिमान और हक के लिए उनकी वाणी फूटी और उनके भीतर का रचनाकार जगा। इस प्रकार के आंदोलनों ने रचनाकारों को प्रेरणा और ऊर्जा दी है। अस्मिता के आन्दोलन के साथ सामाजिक न्याय के आन्दोलन का नालबद्ध रिश्ता रहा है। हर गली-सड़ी परम्परा को उखाड़ फेंकने और अन्धविश्वासों से मुक्त होने की कड़ी में ही, रचनाकारों ने कई पुरानी मान्यताओं को तोड़ा है। यदि हम आज भी स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान गूँजती 'हर बोले बुन्देलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी, अरे खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी' या 'मुझे तोड़ लेना वन माली, उस पथ पर देना तुम फेंक, मातृभूमि पर शीघ्र चढ़ाने जिस पथ जाते वीर अनेक' अथवा 'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है, देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है' या 'सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दोस्तां हमारा' पंक्तियों को नहीं भुला सकते, तो हम शरतचन्द्र जैसे क्रान्तिकारी रचनाकार को भी कैसे भुला सकते हैं, जिसने अपने उपन्यासों में प्रचलित साहित्यिक परम्परा

के खिलाफ जाकर स्त्रियों को नायिका बनाया और शुचिता के बंधन के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाली नायिकाएँ खड़ी कीं। आशा पूर्णा देवी ने उपन्यासों की झड़ी लगा दी और हिन्दी में भगवतीचरण वर्मा ने स्त्री-शुचिता को नकारने वाला पहला उपन्यास 'चित्रलेखा' प्रस्तुत किया। यह सब विश्व में चल रहे स्त्री-मुक्ति आंदोलन का ही प्रभाव था। सबके नाम तो गिनाना संभव नहीं है। ऐसे कहा जाए तो स्त्री मुक्ति की यह परम्परा जैनेन्द्र से होते हुए आज मैत्रेयी पुष्पा तक आ पहुँची है।

हम बंगाल का जायजा लें तो वहाँ ब्रह्मसमाज द्वारा चलाए गए आंदोलन या विवेकानंद द्वारा उठाए गए प्रश्न, ईश्वरचंद्र विद्यासागर और राजा राममोहन द्वारा चलाए गए सतीप्रथा के विरोध में अभियान एक आंदोलन के रूप में ही देखने को मिलते हैं। शरतचंद्र और आशापूर्णा देवी के बाद वामपंथी और नक्सलवादी आंदोलन के प्रभाव से महाश्वेता देवी के रूप में एक महान लेखिका हमें मिली। यह आन्दोलन का प्रभाव था कि बंगाल के अधिकांश रचनाकारों में कालिदास की तरह दरबारी रचनाएं नहीं लिखीं गईं।

स्वतंत्रता आंदोलन के समानान्तर ही चली समाजवादी आंदोलन की धारा। जिसकी लहर रूस की क्रान्ति के बाद हिंदुस्तान पहुँची और लोगों को सामन्तशाही और पूंजीवाद से मुक्ति का रास्ता और समानता का सपना दे गई। इस धारा के साहित्य के सूत्रधार हुए मुंशी प्रेमचंद। उन्होंने संस्कृतनिष्ठ सौंदर्यशास्त्र के विपरीत जा कर 'होरी' जैसे एक मामूली किसान आम आदमी को अपने उपन्यास का नायक बनाया। उन्होंने ऐसी अनेक कथा, कहानियाँ हिंदी जगत को दी, जिन्होंने प्रगतिवादी सोच के तहत अंधविश्वासों, परम्पराओं, रूढ़ियों, ऊँच-नीच, जातिवाद, अमीर-गरीब आदि धारणाओं पर चोट की और उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद व पूंजीवाद तीनों के विरुद्ध अपने पात्रों के माध्यम से कई प्रश्न खड़े किए और एक तर्कशील बहस समाज में छेड़ दी। विश्वभर में अनेक साहित्यकार इस प्रगतिवादी आंदोलन से प्रेरित होकर सृजनरत हो गए। इसी परम्परा में जनवादी साहित्य का जन्म हुआ जो केवल किसी देश विशेष की प्रगति से ही प्रेरित होकर रचना-प्रक्रिया नहीं करता था बल्कि अपने देश की परिस्थितियों के मद्देनज़र जनतान्त्रिक ढंग से प्रगतिवाद की मूलधारणाओं को अनुकूल बनाते हुए साहित्य की रचना का पक्षधर था। प्रगतिवादी और जनवादी आंदोलन ने पुराने दायरे तोड़कर साहित्य में आम आदमी को विद्रोही तेवर दिया, जिसकी कल्पना शिष्ट या संस्कृतनिष्ठ साहित्य कर ही नहीं सकता था। इस प्रगतिशील साहित्य ने बड़े-बड़े लेखक पैदा किए। प्रेमचंद, मन्टो, सज्जाद जहीर, यशपाल, कृष्णचन्द्र दुग्गल से लेकर भीष्म साहनी तक। राहुल सांकृत्यायन, भैरव प्रसाद गुप्त, मुक्तिबोध, हरिशंकर परसाई आदि इस प्रगतिशीलता की लहर का ही उपज थे। इस दौरान जो कवि आन्दोलन या संगठनों से नहीं जुड़े, वे भी वह तोड़ती पत्थर, कुकुरमुत्ता की भाषा बोलने लगे और चतुरी चमार की बात करने लगे। यह

आन्दोलन का असर था कि उस दौरान का साहित्य ऐतिहासिक रूप से असरदार हुआ। किसी विचार के बगैर आंदोलन नहीं हो सकता और बगैर आंदोलन के महान साहित्य की रचना हो ही नहीं सकती। आज हम दलित, आदिवासी और स्त्री-मुक्ति के अभियानों तक पहुँचे हैं, तो उसके पीछे फ्रांस की क्रांति जैसी उस मुहिम का ही असर है या डॉ. अंबेडकर की मुहिम का। मानवाधिकार की चेतना जगी और साहित्य में समानता, आजादी, भाईचारा, मानवता, संवेदनशीलता व मानवाधिकारों और सामाजिक न्याय और अस्मिता की धारा बहने लगी। मनुष्य की आजादी का प्रश्न केंद्र में आ गया और उसने गुलाम-प्रथा, बंधुआगिरी, सामन्तवाद और मनुवाद जैसी वर्णवादी, नस्लवादी व्यवस्था की चूलें हिला दीं। आज उसी का प्रभाव है कि सामाजिक और राजनीतिक जीवन में दखल रखने वाला कोई भी रचनाकार, घर में चाहे वह कितना ही सामन्तवादी, कट्टरवादी, जनेऊवादी या धर्मान्ध क्यों न हो पर मंच पर ऐसी बातों का समर्थन नहीं कर सकता। वह मानवता की ही बात करेगा। वह दलित का विरोध भी नहीं कर सकता। भले ही घर में उनको दस गाली क्यों न देता हो। यह तो स्वीकारना ही पड़ेगा कि आन्दोलन का प्रभाव तो रचनाकार पर पड़ता ही है। एक बात यह भी है कि आंदोलन का असर रचनाकार पर प्रायः सकारात्मक ही अधिक होता है। हाँ! एक बात ज़रूर है कि आन्दोलन से प्रभावित साहित्य जमीन से जुड़ा होता है, इसीलिए शायद वह स्वतःस्फूर्त होता है। प्रतिबद्धता उसे भटकाव से बचाती है। जब साहित्य रस्मी या प्रायोजित होकर योजनाबद्ध हो जाता है, तो वह नारेबाजी बन जाता है, जैसा कुछ हद तक प्रगतिवादी या जनवादी साहित्य के साथ भी हुआ। इसी के विरोध में संभवतः नई कविता तथा नई कहानी ने जन्म लिया। शायद पाठकों की नजर में प्रगतिवादी साहित्य एकरूप और बनावटी हो चला था। वही शुरु, वही अन्त वही जमींदार, वही किसान, वही हमले, वही हत्याएँ। वह यथार्थ न रहकर गढ़ा हुआ सत्य बनता जा रहा था। यथार्थ में हर बार नायक विजेता नहीं हुआ करता। वह हारता भी है, तो जीतता भी है। कभी-कभी उसकी अपनी कमजोरियों उसे ले डूबती हैं। किन्तु यथार्थ के विपरीत उन प्रायोजित कथा-कहानियों में हिंदी फिल्मों की तरह हमेशा विद्रोही जीतने और जमींदार हारने लग गया था। सम्भवतः यह आदर्शवादी साहित्य का प्रगतिवादी रूपान्तरण था।

यह सही बात है कि जब प्रगतिवादी व जनवादी साहित्य फार्मूला साहित्य बनने लगा तो नई कविता, कहानी का जन्म भी एक आन्दोलन के रूप में शुरू हुआ। सोवियत रूस के पतन के बाद निराशा ने कई साहित्यकारों को आ घेरा। कई साहित्यकार तथाकथित उत्तरआधुनिक आंदोलन की गिरफ्त में आ गए और इतिहास, विचार, कविता, कहानी, उपन्यास के अन्त की घोषणा करने लगे, तो कई साहित्यकार चुप हो गए या न लिखने के कारण तलाशने लगे अथवा अमेरिका की दादागिरी को तोड़ना असम्भव मानने लगे। कई तो वैश्वीकरण के गीत भी गाने लगे।

ऐसा साहित्य भी जो सुनी-सुनाई या पढ़ी-पढ़ाई बातों पर दिल्ली में बैठकर एयरकंडीशंड कमरों में लिखा जाता है भी छद्म बन जाता है क्योंकि उसमें यथार्थ कम अतिशयोक्ति ज्यादा होती है। ऐसा साहित्य जो समाज को न दिशा देता है, न उसकी दशा पर कुछ बोलता है बल्कि केवल मनोरंजन करता है, मेरी नज़र में छद्म साहित्य ही होता है क्योंकि उसमें भोगा हुआ सत्य तो होता ही नहीं पर कभी-कभी संभव सत्य भी नहीं होता। उसमें शब्द-सौंदर्य हो सकता है या शाब्दिक चमत्कार हो सकता है या कहने के चमत्कारी अंदाज़ व कुशलता हो सकती है, जिसपर हम मोहित हो सकते हैं, कुछ देर तक मुस्करा सकते हैं, मुग्ध भी हो सकते हैं और स्वान्तः सुखाय की कोई सीमा नहीं होती। रोम के गणतन्त्र के शासक गुलामों को आपस में लड़वाकर, एक के हाथ में तलवार और दूसरे के हाथ में पत्थर पकड़वा कर उन्हें आपस में लड़वाकर मरवा देते थे और उनका खून बहता देख उन्हें मरता देख बीयर की चुस्किया लेते थे, ठहाके लगाते थे। उनका यही सुख था। आज हम उसको सुख नहीं कहते। बर्बरता कहते हैं। इसलिए जो साहित्य मनुष्य और संवेदना से जुड़ा न हो, समाज से जुड़ा न हो वह व्यक्तिपरक साहित्य शैली के लिहाज से चमत्कारिक तो हो सकता है लेकिन उसे सही अर्थों में साहित्य नहीं माना जा सकता।

#### काला साहित्य/दलित साहित्य

भारत में गाँधी ने भी स्वतंत्रता अभियान चलाया और कांग्रेस का संगठन बनाया जिसमें कई राष्ट्रवादी कवि उभरे। हालाँकि गाँधी जी ने स्वतंत्रता आंदोलन के साथ-साथ ही हरिजन-उद्धार की मुहिम भी चलाई लेकिन उस मुहिम में कोई ऐसा लेखक पैदा नहीं किया जो मानसिकता बदलने के लिए कारगर होता, जैसा कि डॉ. अम्बेडकर की मूवमेंट ने किया। उसके कारण दलित आंदोलन में अनेक धारदार विचारक सामने आए। शायद यह इसलिए कि गाँधी के हरिजन उद्धार में दया-भाव अधिक था, उनके हक की बात कम थी। गाँधी जी खुद वर्ण-व्यवस्था को मानते थे और उसमें रहते हुए हरिजन-उद्धार सफल बनाना चाहते थे, जो संभव नहीं था। इसलिए गाँधीजी के हरिजन-उद्धार का प्रभाव साहित्य पर नहीं पड़ा।

ठीक इसके विपरीत जिन परिस्थितियों में अमेरिका या लैटिन अमेरिका (मेक्सिको समेत) में अथवा दक्षिणी अफ्रीका में काले साहित्य ने जन्म लिया था और उनका समर्थन उदार गोरे लेखकों ने भी किया था, उन्हीं परिस्थितियों में भारत में अंग्रेजों के शासन के दौरान ही डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने दलित आन्दोलन चलाया था जिससे दलित साहित्य का जन्म हुआ। यह वर्णव्यवस्था, भाग्य-भगवान, पाप-पुण्य, या पूर्व-जन्म की अवधारणा के विपरीत वैज्ञानिक सोच पर आधारित मनुष्य केंद्रित मानवतावादी सोच का साहित्य था। यह साहित्य आज भी उतना ही मुखर, जुझारु, संकल्पशील और आशावादी है, जितना यह अपने जन्म के समय था। इसका एक

मुख्य कारण है कि यह विश्व की तथाकथित मुख्यधाराओं की धार्मिक-सामाजिक व राजनीतिक अवधारणा से ऊर्जा प्राप्त करने में विश्वास नहीं रखता बल्कि गौतम बुद्ध के अप्पः दीपो भवः का सूत्र पकड़, मनुष्य को केन्द्र में रखकर मानवीय संवेदना और बहुजन-सुखाय की अवधारणा पर टिका है और मनुष्य के हक के लिए लड़ता है। जब तक इन उपेक्षित जमातों पर अन्याय होता रहेगा उनका हक उन्हें नहीं मिलेगा उनकी लड़ाई भी जिन्दा रहेगी और उनका दलित साहित्य भी। इस साहित्य के प्रतीक, मिथक, शैली और भाषा शिष्ट साहित्य या तथाकथित प्रगतिशील साहित्य से भी भिन्न हैं। उसका एक बड़ा कारण है कि यह साहित्य भोगे हुए सच पर आधारित है। यह जीवन की सच्चाईयों से विलग मुंगेरी लाल के सपनों या शेखचिल्ली जैसी कल्पनाओं का मोहताज़ नहीं। दलित साहित्य जहाँ मनुष्य के लिए मानवीय शर्तों की प्राप्ति हेतु उनके हक की लड़ाई है, वहीं वह पूजा-पाठ, भगवान, भाग्य, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, छुआ-छूत, जाति-पांति, श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ, ऊँच-नीच, सबको नकारते हुए समानता, भाईचारा और आजादी की बात करता है।

महाराष्ट्र में दलित साहित्य का जन्म दलित आंदोलन से ही हुआ। इसी तरह गुजरात में जब मेडिकल कॉलेज में आरक्षण के विरुद्ध दंगे में बहुत से दलित मारे गए, तब वे संगठित हुए और उनकी वाणी फूटी। इसके बाद वे शब्दों से लैस होकर प्रतिरोध में खड़े हो गए। प्रवीण गढ़वी ने तो यह घोषणा ही कर दी

‘प्रवेश मत करो दोस्तो/ रुक जाओ

कल्लगाहों में एक भी कदम/ मत रखो दोस्तो

उस मन्दिर की सीढ़ी पर/ जहाँ पड़ी है

अपने ही बेटे की/ खून से सनी लाश

उस मन्दिर के विशाल गुम्बदों से आती है

हरे भरे जलाए गए/ अपने अन्न की गंध।’

अपनी कविता ‘ज़रूरत’ में साहिल परमार कहते हैं

‘उनके कैमरों का लैस चटका हुआ है लेकिन अब मैं

अपने ही कैमरे में खींच सकता हूँ तस्वीरें

अपनी और उनकी, जो हैं वैसी ही

इसलिए लोग मचाते हैं कागा-रोर!’

यह कविता दलित साहित्य के होने पर तथा उसकी ज़रूरत को लेकर उठाए गए प्रश्नों का उत्तर देती है।

दुर्भाग्यवश हिन्दी पट्टी में शुरू-शुरू में जो दलित-लेखन हुआ, उसे स्वर्ण दादागिरी ने न सिर्फ नकारा बल्कि इस हद तक दबाया कि या तो वह चुप रहा या दबा-दबा सुलगता रहा अथवा अपनी पहचान छिपाकर, जोखिम उठाकर लिखता रहा। पंजाब में ऐसा ही होता रहा है। वह चिन्गारी से लपट बनकर लपक नहीं पाया।



अस्सी के दशक के बाद दलित-लेखन हिन्दी पट्टी में शुरू हुआ और यह नौकरशाहों की कलम ने अधिक लिखा। उत्तरप्रदेश के पूर्वी क्षेत्र को छोड़ दें तो ये महाराष्ट्र की तरह जमीनी आंदोलन तो नहीं बन पाया, हाँ विचार और कलम का सक्षम आन्दोलन ज़रूर बन गया। हिन्दी पट्टी में यही दलित आन्दोलन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिवर्तन न होकर केवल राजनीतिक आन्दोलन वह भी सत्ता में भागीदारी के आन्दोलन में बदल गया। इसलिए वहाँ दलित-लेखन जमीनी स्तर पर समाज परिवर्तन और जाति-तोड़ो आन्दोलन का कारगर हथियार न बनकर सत्ता के गलिआरों में अधिक घूमता रहा लेकिन सभी लोग ऐसे नहीं हैं। बहुत से क्रान्तिकारी दलित लेखक भी उभरे हैं। कतिपय लोगों के चलते दलित आन्दोलन और दलित साहित्य एक कॉमन एजेंडे पर एक साथ खड़ा होने की बजाय, आपसी गुटों में बंट गया। कोई वैश्वीकरण का समर्थन करने लगा तो कोई विरोध। कोई जाति को मजबूत करने की बात करने लगा तो कोई जाति उन्नयन की। जाति-तोड़ो और बहुजन की अवधारणा, जो दलित आन्दोलन की रीढ़ है, गौण हो गई। कुछ लोग तो बाबा साहब की मुहिम से ही भटक गए। फिर भी दलित आंदोलन की गहरी छाप साहित्य पर पड़ी, जिसने देश भर में वातावरण का निर्माण किया। अभिजात व सवर्ण भी चाहे-अनचाहे उसका समर्थन करने लगे। शुरू में जो लोग दलित साहित्य का नाम सुनते ही भड़क या विदक जाते थे, वही लोग आज खुद को दलित साहित्य का अगुआ कहलाने की होड़ लगने लगे हैं। दलित ही दलित साहित्य लिख सकता है इस विवाद पर नामवर जी तक ने अपना मत बदल डाला। अब वे भी हमारे इस मत को मानने लगे कि दलित ही दलित साहित्य लिख सकता है। तभी तो उन्होंने उज्जैन में कहा था 'जूठन' आत्मकथा ओमप्रकाश वाल्मीकि ही लिख सकते हैं चूँकि उन्होंने उस यथार्थ को भोगा है हम ग़ैरदलित नहीं चूँकि हम उस सच से परिचित ही नहीं हैं।' यह है आंदोलन की ताकत!

हिन्दी पट्टी में कई दलित लेखक आत्मकथा और कविता में ऊँचाईयों तक पहुँचे हैं। कंवल भारती की आलोचना अपने समाज की कमजोरियों पर उतनी ही तीखी नज़र रखती है जितना अभिजात व सवर्ण समाज की दादागिरी पर। सूरजपाल की कविता हो या आत्मकथा उसमें सच्चाई का इस हद तक चित्रण होता है कि तथाकथित भारतीय संस्कृति, जिस पर हम लोग गुमान करते रहे हैं चिंदी-चिंदी हो जाती है।

दूसरी तरफ उनकी कविता 'यह दलितों की बस्ती है, 'मेरा गाँव' और 'तन्नक तू' दलितों में व्याप्त विकृतियों, अन्धविश्वासों, अज्ञान और दुविधा को भी साफ शब्दों में फटकारते हुए सावधान करती हैं और दिशा देती है।...

**'ये दलितों की बस्ती है/ सारा शहर बुहारा करते  
अपनी ही घर गंदा रखते/ शिक्षा से रहे कोसों दूर**

दारू पीते रहते चूर/ बोटल मंहगी तो क्या है  
देसी थैली सस्ती है/ यह दलितों की बस्ती है।'

### आदिवासी साहित्य

ऐसा ही एक और साहित्य है जो अपने संगठन की वजह से पिछले पांच हजार वर्षों से जिन्दा है वह है आदिवासी साहित्य। सदियों पहले आर्यों से परास्त होकर ये लोग जंगलों में खदेड़ दिए गये थे। सामूहिक जिन्दगी जीने वाले, प्रकृति प्रेमी, प्रकृति के सहयात्री और सहयोगी आदिवासी समूह सम्पत्ति की धारणा व लिंग विभेद के भेदों से बिल्कुल अनजान थे। वे सदियों से जंगलों में रह कर जंगलों के फल या कंद-मूल खाकर व नदियों के पेट में खेती अथवा जंगलों में झूम खेती करते हुए बड़े स्वाभिमान सहित अपनी भाषा, संस्कृति व जीवनशैली को जिन्दा रखे हुए थे। अंग्रेजों ने इनकी भाषाओं को लिपि दी और इन्हें पढ़ना-लिखना सिखाया। इन तथाकथित आदिम जमातों के पास अपूर्व लोकसाहित्य का खजाना सुरक्षित है, जिसे पीढ़ी दर पीढ़ी इन्होंने अपनी वाचिक परम्परा में जिन्दा रखा। लगभग सौ डेढ़-सौ साल पहले इन्होंने लिखना शुरू किया। यह इनका संगठित सामूहिक जीवन ही था, जिसने इनके साहित्य को जिन्दा ही नहीं रखा बल्कि समयानुसार उसमें कुछ न कुछ जोड़ता भी रहा। खोज करने पर इनकी जीवनशैलियों, पर्वों, त्योहारों, उत्सवों, अनुष्ठानों, मंत्रों एवं लोकथाओं और लोकगीतों से पूरा का पूरा इतिहास मिल सकता है, जिसका अभाव तथाकथित भारतीय संस्कृति के साहित्य में रहा है। भारतीयों ने कभी अपना इतिहास नहीं लिखा न ही गाया न ही सुनाया। जो लिखा जो सुनाया जो गया वह अतिशयोक्तिपूर्ण था। सत्य नहीं था। वह भाटों द्वारा प्रशस्ती-गान बन कर गाया-सुनाया जाता रहा।

पूर्वोत्तर में अंग्रेजों के ज़माने से ही आदिवासी अस्मिता का आन्दोलन शुरू हो गया था। उसी प्रकार झारखंड, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र में भी पहचान का यह आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा था।

बाबा साहब अंबेडकर ने ही आदिवासी समस्याओं पर सबका ध्यान खींचा या फिर संविधान बनाते समय इनके संरक्षण व आरक्षण का प्रावधान किया था। उनकी मृत्यु के बाद चूँकि दलित नेतृत्व ने आदिवासी मुद्दे, जो दलितों से काफी हद तक भिन्न थे, पर ध्यान नहीं दिया। फलतः महाराष्ट्र में स्वतंत्र आदिवासी संगठनों की शुरुआत हुई और भीतर ही भीतर आन्दोलन भी सुगबुगाने लगा। यह आन्दोलन तुमराम, वाहरू सोनवणे, भुजंग मेश्राम व लक्ष्मण गायकवाड़ के नेतृत्व में चला और कई कवि, कहानीकार, नाटककार इस आन्दोलन ने पैदा किए। वाहरू सोनवणे की निम्न कविता 'स्टेज' 'आदिवासी साहित्य क्यों?' का माकूल और सटीक जवाब है।

'हम स्टेज पर गये ही नहीं/ और हमें बुलाया भी नहीं'

उंगली के इशारे से/ हमें हमारी जगह दिखायी गई  
वे स्टेज पर खड़े होकर हमारा दुख/ हमें ही बताते रहे  
हमने शंका प्रकट करनी चाही/ वे बड़बड़ाये  
उन्होंने कान देकर सुना/ फिर हमारे कान पकड़ कर कहा  
सावधान! माफी मांगो नहीं तो...!'

## कामरेड बी. टी. आर. हमारे बीच हैं

‘का. बी. टी. आर. नहीं रहे’ एक खबर आयी एक बड़ा-सा शून्य उठ कर मुझे घेरने लगा। फिर इस शून्य का आकार बड़ा होता गया और वह अतीत वर्तमान भविष्य की सीमाएँ लीलता सा धरती से आकाश तक फैलने लगा।

किस छोर को पकड़ूं। इस शून्य को परिभाषित करने के लिए प्रश्नों की मुट्ठी बांधे मेरा हाथ एक पूर्णविराम के दण्ड की तरह उठ-उठ कर फुलस्टॉप के विन्दु में समा जाने लगा था। एक कतार प्रश्नचिह्नों की उस शून्य में मिल जाती थी।

फिर स्मृतियों के कंगूरों पर घटनाएं कौंधी, अनेकों-अनेक आन्दोलनों के हजूम, सैंकड़ों-सैंकड़ों नारों की तर्क-सम्मत, गगन-भेदी, व्यवस्था-भंजक, अनुगूँजें, संगठनों की गुथी-गुथी श्रृंखलाएं, विचारों के लक्ष्य-बद्ध आवर्त, सब एक दिशा में, एक ध्येय की तरफ कतार-बद्ध हो कर चलते, लय की तारों से चमत्कृत हो-हो कर उत्तर देने लगे “बी.टी.आर. अमर रहें बी. टी. आर. अमर हैं।” शून्य डोलने लगा था।

बी. टी. आर. सच्चे कम्यूनिस्ट थे। कम्यूनिस्ट कभी थकता नहीं हारता नहीं मरता नहीं। वह हमेशा प्रयासरत रहता है, कार्यरत रहता है और संकल्पों की एक विरासत से लैस रहता है, जिसे वह अगली पीढ़ी के लिए छोड़ जाता है। वह एक विचार है, जो मरता नहीं और इसीलिए बी. टी. आर. कभी मर नहीं सकते!

शून्य कांपने लगा। एक हलचल सी हुई। मैं 1985 में लौट गई जब मैं प्रत्यक्ष रूप से सी. आई. टी. यू. और सी. पी. एम. से जुड़ी थी। 1985 में हम सी. सी. एल. के सिंगरौली क्षेत्र की जयन्त कोलयरी में ठेकेदारी मजदूरों को नियमित करने का आन्दोलन कर रहे थे। 35 साथी गिरफ्तार थे, जो उन्हें जमानत कराने जाता, उसे भी पुलिस यातना देती और झूठे-सच्चे केस लाद कर जेल भेज देती। पुलिस ने मुझे गिरफ्तार करने के लिए जगह-जगह चौकियां बना कर, महिला पुलिस बिठा रखी थी। पकड़े जाने पर मेरा मारा जाना भी निश्चित था। मैं मध्य प्रदेश से सटे उत्तर प्रदेश की सीमा में स्थित शक्तिनगर में कामरेड दूबे के घर में रह कर मजदूरों की जमानत कराने और आन्दोलन को विखरने से रोकने की जद्दोजहद के क्रम में, मध्य-प्रदेश में भूमिगत हो कर कार्य कर रही थी। मैंने दिल्ली जाकर कामरेड बी. टी. आर. से भेंट कर उन्हें सारी स्थिति स अवगत कराया। उन्होंने तुरन्त निर्देश दिया “रमणिका गिरफ्तारी मत देना। वह तुम्हें टार्चर करेंगे। तुम्हारे साथ पार्लियामेन्ट के दो सदस्य जाएंगे। तुम आम

सभा में उन लोगों के साथ जाओगी। देखते हैं वह कैसे लोकसभा सदस्यों को पकड़ते हैं? तब तक बच कर रहो। आन्दोलन को जिन्दा रखो।”

शून्य का वह घेरा अब सिकुड़ने लगा था। उस शून्य में एक दरार नज़र आने लगी थी, जो बड़ी होती जा रही थी। केदला कोलयरी में आमसभा महिलाओं की भारी भीड़ का. बी. टी. आर. कह रहे थे “महिलाएँ आन्दोलन को अंजाम दे सकती हैं उड़ीसा में मशीने लाकर औरतों की छटनी की जा रही थी, लेकिन सब महिला-मज़दूर अड़ गईं, मशीनों के आगे सो गईं। जब तक मशीने लौटी नहीं तब तक वे हटी नहीं। यह शक्ति है आवाम में। वे अपनी नौकरी बचाकर ही हटीं।”

शून्य कट रहा था कि उभर आया सी. आई. टी. यू. का 1987 का बम्बई सम्मेलन। महिलाओं के प्रति उनकी संवेदनशीलता, संगठन में महिलाओं की भागीदारी के प्रति उनका आग्रह। संगठन में अधिकांश पुरुष-नेतृत्व के महिलाओं के प्रति उदासीन और उपेक्षा भरे दृष्टिकोण का मुखर प्रतिवाद करने में उनका दूसरा सानी न था। सी. आई. टी. यू. के बम्बई सम्मेलन में पूरा-का-पूरा एक सत्र ही उन्होंने महिलाओं के लिए रख दिया था। उस सम्मेलन में उनकी प्रेरणा से भारी संख्या में महिलाओं की शिरकत भी हुई थी। महिलाओं के कार्यक्रम को हाईलाइट करने के लिए टी. वी. और कैमरामैनों की फ्लैशलाइट पूरे सत्र को लश्काती रही थी। उन्होंने अपने भाषण में पुरुषों के पुरुषवादी संस्कारों को, जो महिला-विरोधी होते हैं, काफी कुरेदा था। मुझे याद आ रहा है, जब उस दिन बिहार की तरफ से बोलने के लिए कहा गया और उसका अनुवाद भी अंग्रेजी में डा. पन्धे से कराया गया तो अनुवाद के तुरन्त बाद उन्होंने अध्यक्षीय टिप्पणी में कहा “रमणिका का भाषण बहुत जोशीला था पर अंग्रेजी अनुवाद वैसा जोशीला नहीं किया गया।” मुझे आश्चर्य हुआ कि कैसे का. बी. टी. आर. महिलाओं की तनिक-सी उपेक्षा को भी नोट करते थे और अपने नेतृत्व वर्ग का ध्यान खींचते थे।

मेरे भाषण पर उन्होंने कहा “मैं सोचता था रमणिका पूरा वार करेगी, पर इसने बिहार के नेतृत्व को बचा लिया और एक वैलेन्सड मध्यवर्ग अपनाया है।” यानि वह संगठन स्तर पर बिहार में हो रही महिलाओं की उपेक्षा से वाकिफ थे और वह इस टिप्पणी के माध्यम से सब कह भी गये।

यादों की किरण यकायक कौंध गईं। शून्य में से कोठागुड़म में अखिल भारतीय कोल वरकर्स फेडरेशन के सम्मेलन का मंच सामने ठसाठस भरा पंडाल आ खड़ा था मेरे समक्ष। मंच पर ‘ब्रिटिश ट्रेड यूनियन’ के लन्दन से आए ‘स्टीफन फाकनर’ का अंग्रेजी का भाषण, मैं लाइन ब लाइन साथ-साथ अनुवाद कर रही थी। का. बी. टी. आर. के समक्ष मुझे अनुवाद का अवसर मिलना ही मेरे लिए एक अत्यन्त ही उत्साह-वर्द्धक बात थी। भाषण समाप्त होते ही पीछे से बी. टी. आर. ने कहा “वैल डन रमणिका, वैल डन।” फिर मुझे पास बुला कर कहा “बहुत सजीव और सटीक

(Lively) अनुवाद किया।” मैं अपनी उस खुशी का अन्दाज़ नहीं लगा पा रही थी। कामरेड बी. टी. आर. के शब्दों ने मेरे भीतर सोये एक अनुवादक को जन्म दे दिया।

मैं उन दिनों हृदय रोग से पीड़ित थी। बाय-पास सर्जरी की बात चल रही थी। मैं हर समय मौत के साये से घिरी रहती थी। उस दिन जीने की इच्छा ने मौत के साये को तोड़ा। कामरेड बी. टी. आर. कार्यकर्ताओं के प्रेरणा-स्रोत थे। उनसे बात करने पर या उनकी बातें सुन कर पूरी जमात में कुछ कर गुजरने का एक नया हौसला, एक असीम उत्साह भर जाता था। वह पूरे मज़दूर संगठन में, जहाँ साहस भरते थे, वहाँ उनकी गलतियों का अहसास भी बखूबी, बिना मानसिक क्लेश पहुँचाए अथवा बिना जलील करने का नज़रिया अपनाए, करवा देते थे। वह अपनी ग़लत समझदारी को भी मजदूरों के बीच कबूल करने और सुधारने से हिचकते न थे। इन्टैरिम-रिलीफ को लेकर कोयला क्षेत्र के पीस-रैटिड व कैटेगरी वन मजदूरों में काफी रोष था, जिसकी प्रतिक्रिया मजदूर प्रतिनिधि वहाँ जाहिर कर रहे थे। हमलोग, जो उनमें काम करते थे, नेतृत्व को उनके रोष की बराबर जानकारी देते आ रहे थे लेकिन जो दूसरे कैटेगरियों तथा ग्रेड के बीच के नेतृत्वकारी साथी थे, वे इस रिलीफ से खुश थे। भीतर ही भीतर काफी गरम बहस जारी थी। पीस-रैटिड मजदूर इस बात से खफा थे कि एक्सेवेशन, माइनिंग के कामगार तथा स्टाफ, जो आन्दोलन में सबसे पीछे रहते थे और संघर्ष में भाग नहीं लेते, वे संघर्ष के लाभ का बड़ा हिस्सा पा जाते थे, जबकि आन्दोलन नीचे की जमात ही किया करती थी। इन्टैरिम रिलीफ में भी यही हुआ था। उसमें भी पीस-रैटिड मजदूर सब से अधिक घाटे में रहे थे। हर प्रतिनिधि ने अपने अपने विचार व्यक्त किये। का. बी. टी. आर. ने वहीं पर स्पष्ट तौर पर स्वीकार किया कि वह इन्टैरिम रिलीफ पर अपने दृष्टिकोण में सुधार करेंगे, उन्हें मजदूरों की भावनाओं की सही जानकारी नहीं थी। दरअसल उस तबके के मजदूर नेतृत्व वर्ग या कैंडर में कम थे।

एक बार फिर सिकुड़न हुई उस शून्य में। मैंने अपने को दिल्ली सी. आई. टी. यू. के केन्द्रीय कार्यालय में पाया। मेरी बीमारी काफी बढ़ती जा रही थी। मैंने अपनी 'विल' लिख कर पार्टी को दे दी थी। आप्रेशन की तिथि निश्चित हो गई थी। मैं मरने का विश्वास लिए, आप्रेशन करवाने जा रही थी। जाने से पहले का. बी. टी. आर. से भेंट नहीं हो सकी थी। मैं एस्काट अस्पताल दिल्ली में भर्ती थी। बाहर से लौटते ही उन्होंने मेरे बारे में पूछा और विमल दी को दो दो बार मेरे पास मिलने भेजा। सी. आई. टी. यू. कार्यालय से लोग मिलने आये। मेरे लिए खून की दरकार थी। सी. आई. टी. यू. के कार्यालय से खून का इन्तजाम करवाया गया। वे बराबर मेरी सेहत के बारे में पूछ-ताछ करते थे। उन जैसे नेता की अपने कार्यकर्ताओं के प्रति यह चिन्ता, यह खोज-खबर रखने की प्रवृत्ति, हमारे जैसे फील्ड में जूझ रहे कार्यकर्ताओं में लगन तथा उत्साह और हिम्मत का अनवरत स्रोत थी और इससे

संघर्ष में जूझने की तमन्ना बलवती होती थी।”

ऑप्रेसन के बाद जब मैं लौटी तो उन्होंने पूछा “अब तुम क्या करोगी? आराम करो।” मैंने विमल दी की तरफ देखते हुए कहा “अब तो फिर जंगे मैदान में जाना है।” वे हंस कर बोले “अब विचार करो, बैठ कर अध्ययन करो, कुछ लिखो।” वे यह सुझाव मेरी सेहत को देखते हुए दे रहे थे। मैं चुप रही तो बोले “खैर सेहत का भी खयाल रखो।” शायद वे मेरी मंशा भांप रहे थे। विमल दी मेरी मंशा को शब्द देते हुए बोली “हम लोग बिना मजदूर जमात के जी नहीं सकते।”

मैं उस शून्य के किनारे-किनारे चलने लगी थी। मम्बई में बी. टी. आर. का मकान। उनके दांत के ऑप्रेसन के बाद मैं उन्हें मिलने गई थी। ‘लाल सलाम’ का जवाब कामरेड वी.टी.आर. ने हाथ उठा कर दिया। ‘कैसे हैं कामरेड आप’ का जवाब उन्होंने हीले से ‘ठीक है’ कह कर दिया। ‘उन्हें ज्यादा बोलना मना है’, विमल दी ने बता दिया था। दांत का ऑप्रेसन हुआ था। विमला दी कामरेड बी. टी. आर. की तरफ से सवाल पूछ रहीं थी। मैं जवाब दे रही थी। का. वी. टी. आर. सुन रहे थे।

मैं मन और दिमाग पर उनकी बीमारी से संबंधित अनेकों प्रश्नों का बोझ लादे दिल्ली लौटी। का. बी. टी. आर. भले शरीर से बीमार थे पर मन उनका हमेशा स्वस्थ रहा। मन से वे न कभी थके, न हारे, न अस्वस्थ हुए। उनकी सोच, उनकी दृष्टि, समग्र कैडर को दिशा देती रही। ज़रा-सा स्वस्थ होने पर वे पुनः आफिस में आ बैठते, फिर दूर पर निकल जाते।

दिल्ली 18 मार्च। शून्य अब खण्ड-खण्ड हो गया था। मैं और का. नन्दकिशोर उनके आवास पर उनसे मिलने गये। विमल दी थीं। उन्होंने बताया कि उनसे बात पूछना मना है पर अपनी बात हम उन्हें सुना सकते थे। इस बार ‘लाल सलाम’ का जवाब उन्होंने आँखें झुका कर दिया। फिर विमल दी की तरफ देखा। वह आराम कुर्सी पर अधलेटी मुद्रा में बैठे थे। विमल दी ने चुनाव के बारे में पूछा। मैंने बताया मैं हार तो बुरी तरह गई हूँ पर साम्प्रदायिकता के खिलाफ जोरदार मुहिम चलाने में हम कामयाब रहे हैं। नये पहचान-सूत्र इकट्ठे कर पाये हैं अब पार्टी का फैलाव करने की सम्भावनाएं बढ़ी हैं। मैंने देखा उनके चेहरे पर सन्तोष की एक लहर दौड़ गई। आँखों में चमक आई पर तत्क्षण पीड़ा से उनका चेहरा पीला पड़ता नज़र आया। विमल दी हमें बाहर ले आई। लग रहा था एक युग जूझ रहा है जिन्दगी का युग मौत के खिलाफ। यह जूझता हुआ युग अपनी छाप छोड़ता चला जा रहा है। छाप जो अमिट है एक सच्चे कम्युनिस्ट की छाप, जो असाधारण व्यक्तित्व समेटे हो कर भी, साधारण से साधारण कार्यकर्त्ताओं से घुल-मिल जाता था बड़े से बड़े आयोजनों में, छोटे-छोटे कार्यकर्त्ताओं तक को और महिलाओं को स्वयं चाय का प्याला दे आता था; एक जुझारू नेता की छाप एक पार्टी के विचारक की छाप जो कितने दस्तावेज़ तैयार कर गया आगे आने वाली पीढ़ी को राह दिखाने के लिए; जो

अन्तिम दिनों में बेरोजगारों की जमात के लिए 'काम के अधिकार' का दस्तावेज दर्द से करवटें बदलते-बदलते तैयार करता रहा; जो अपने लिए, अपने आराम के लिए समय नहीं बचा पाया पर संगठन के लिए जिन्दगी का पल-पल दे गया।

विमल दी ने बताया "अगले दिन उदय आयेगा, डॉक्टर भी मुम्बई से आ रहे हैं। इन्जेक्शन लग रहा है, जो बहुत ही पीड़ा देने वाला है। असल में चुनाव प्रचार में वी. टी. आर. चले गये थे, उसके बाद ही फिर से तबीयत ज्यादा बिगड़ गई।"

इतनी पीड़ा होते हुए भी मैंने पीड़ा की शिकन उनके चेहरे पर नहीं देखी। देखी एक दृष्टि सुदृढ़-सबल, जो कहीं भ्रमित न थी। एकदम स्पष्ट साफ। देखी एक तर्क-सम्मत विचार-शृंखला, जो पार्टी लाइन और कार्यक्रम को रेखांकित करती थी। देखा अनुभवों का भंडार जो संगठन की रीढ़ था। देखा अदम्य उत्साह का विराट रूप जो कार्यकर्ताओं का प्रेरणा-श्रोत था। देखा एक अतीत जो कठिन, दुःखद, कष्टदायक परिस्थितियों से जूझता, दुःसाहसिक, सुसंगठित और प्रतिबद्ध था। चतुर्दित एक व्यापक दृष्टिकोण लेकर एक कान्फेडेंशन का विराट स्वरूप, जो सब मजदूर संगठनों को समेट क्रान्ती का रूप लेगा, परिवर्तन का रास्ता बनाएगा। देखा भारतबन्दों का कतारबद्ध परिणाम-पुंज दिल्ली की रैली लाखों का आह्वान एक ललकार दिल्ली पर अगली बार कब्जा करने की; देखा एक भविष्य भी जो बड़े आ रहा था मजदूर जमात का, देश का, राजनैतिक समीकरण का, उन आँखों में जो पीड़ा को नकार केवल देख रही थी परिवर्तन।

मैं जान गई थी संभवतः मौत नज़दीक आ रही है पर इच्छा शक्ति ने मौत को पछाड़ रखा है।

और आज खबर सुनी "का. बी. टी. आर. नहीं रहे।" असंख्यों स्मृतियों के जुगनुओं की चमक ने उस शून्य को ध्वस्त कर दिया, जिसने मुझे आ घेरा था। मैं कह उठी "कामरेड वी. टी. आर. हमारे बीच हैं हमारे बीच थे हमारे बीच रहेंगे।" एक धुन बज उठी "हम होंगे कामयाब एक दिन!" उनकी दृष्टि, उनके विचार कभी मर नहीं सकते।



## प्रेम न बाड़ी उपजै

प्रेम गतिशीलता और बदलाव का पक्षधर होता है क्योंकि वह परम्परा की चुनौतियों से पैदा होता है। प्रेम संवेदना रहित नहीं हो सकता, इसलिए वह समय की संवेदनाओं के साथ चलता है। नयी संवेदनाएं पैदा करता है और संवेदना की एक महान् परम्परा का निर्माण भी करता है। क्या प्रेम में विश्वासघात होता है? इस सवाल का जवाब जब-जब भी मैंने खोजा तो मुझे नकारात्मक उत्तर ही मिला। प्रेम के कई स्तर हो सकते हैं कई कसौटियाँ हो सकती हैं पर प्रेम को विश्वासघात से जोड़ना मुझे कभी तर्कसंगत नहीं लगा। इसलिए जब राजेन्द्र यादव ने मुझे 'मेरे विश्वासघात' के तहत कुछ लिखने को कहा तो मेरा उत्तर था मैं 'प्रेम में विश्वासघात' के अस्तित्व को ही नहीं मानती। प्रेम में भटकाव हो सकते हैं। प्रेम में बेवफाई हो सकती है, जो प्रेम के सन्दर्भ में नहीं, सामाजिक नियमों व व्यक्तिगत ताबेदारी या गुलामगिरी में परिभाषित की जा सकती है। विश्वासघात या वफादारी, दयानतदारी, ईमानदारी, लेन-देन, आदान-प्रदान के संदर्भ में होता है। पर प्रेम? प्रेम या तो होता है या नहीं होता है! प्रेम कम हो सकता है अधिक हो सकता है, सामान्य हो सकता है पर 'विश्वासघाती' नहीं होता। कभी-कभी हम आसक्ति को भी प्रेम कह बैठते हैं और कभी-कभी ऐय्याशी, व्यभिचार, यहाँ तक कि बलात्कार को भी एकतरफा प्रेम दोतरफा प्रेम के दायरे में बांट देते हैं।

ज़रूरी नहीं प्रेम एक ही व्यक्ति से हो। वह एक से अधिक यानी कइयों से भी हो सकता है। जब प्रेम को एक दायरे में सीमित कर किसी एक के प्रति होने के लिए बाध्य किया जाता है तो वह प्रेम रह ही नहीं जाता! किसी एक के प्रति बाध्यता ही प्रेम को संकुचित कर देती है। इसी संदर्भ में वफादारी, विश्वासघात जैसे विशेषण उसके साथ जुड़ जाते हैं।

मुझे किसी से प्रेम है, तो यह ज़रूरी नहीं कि दूसरे से प्रेम न हो। दरअसल विवाह की प्रथा लागू होना ही प्रेम को रस्मी बना देता है। उसके साथ विश्वास, सन्देह, वफादारी, विश्वासघात जैसे भावनात्मक शब्द आ जुड़ते हैं। इन्हीं के आधार पर प्रेम को व्यभिचार के दर्जे में डाल दिया जाता है। प्रेम में मुग्धता भी होती है जो एकतरफा तो हो सकती है पर जोर-जबरदस्ती नहीं। दो लोगों में प्रेम हो तो सहमति भी होती है। उसमें असहमति की गुंजाइश नहीं होती। जब तक किसी से प्रेम है तो है, जब नहीं रहा, तो नहीं रहा। किसी से सदैव प्रेम रहना ही चाहिए का आग्रह

ही बाध्यता का द्योतक है, जिसे बन्धन तो कहा जा सकता है पर प्रेम नहीं। हम प्रेम को समझने में यहीं चूक जाते हैं।

जहाँ तक शारीरिक या दैहिक संबंधों या रिश्तों का सवाल है, ये बाद में आते हैं। ये ज़रूरी भी होते हैं और नहीं भी होते हैं। कई बार शारीरिक रिश्ते प्रेम को पुख्ता करते हैं और कई बार तोड़ते भी हैं।

दरअसल, आसक्ति ही हमें घृणा के करीब ले जाती है चूँकि उसमें प्रेम सीमा लांघ कर आकर्षण की हद में प्रवेश कर जाता है और आकर्षण व उसके पात्र ज़रूरी नहीं कि स्थायी हों। ऐसे तो ज़रूरी नहीं कि प्रेम भी स्थायी हो पर प्रेम झटपट में न होता है, न टूटता है। आकर्षण तात्कालिक या क्षणिक हो सकता है।

इसलिए जब लोग विश्वासघात के बारे में लिखते हुए अपने शारीरिक सम्बन्धों के किस्से बयान करते हैं, तो वे प्रेम के किस्से नहीं होते। वे मजबूरियों, भटकावों, ऐय्याशियों अथवा रंगरलियों के किस्से हो सकते हैं, जिस पर आप मन मसोसते, पछताते या शर्मिदा होते हैं अथवा निपुणता या चालाकी की शेखी बघारते हैं।

जहाँ तक मजबूरियों का सवाल है, तो मजबूरियाँ केवल उनके साथ होती हैं जो अपना फैसला खुद नहीं ले सकते या जो दूसरों के नियंत्रण में रहने को बाध्य होते हैं अर्थात् जो परजीवी होते हैं।

स्त्री, दलित अथवा बन्धुआ इस श्रेणी में आते हैं। अधिकतर अभिजात्य या सक्षम लोग ऐय्याशों की श्रेणी में ही आते हैं। उनके साथ मजबूरियाँ नहीं होतीं। उनमें आकर्षण, भटकाव या एडवेंचर की भावनाएँ प्रबल होती हैं। इसलिए मैं हमेशा कहती हूँ कि आत्मकथाएँ स्त्री, दलित या गुलाम लिखें तो वे समाज का सत्य और सही चित्रण होता है। उन्हें समाज का सत्य लिखना भी चाहिए। समाज में व्याप्त विकृत तथ्य जानने पर उन परिस्थितियों से जूझा जा सकता है। समाज में बदलाव की चर्चा चलायी जा सकती है। दृष्टिकोण बदले जा सकते हैं। यदि कोई अभिजात अपनी आत्मकथा लिखता है तो वह समाज का दर्पण नहीं बल्कि व्यक्ति की किस्सागोई होती है जो कई रंग लिए होती है और वह समाज को कुछ देती नहीं बल्कि बिगड़े हुए समाज की गतियों का ब्यौरा देती है, जिससे वे चाहते तो बच सकते थे चूँकि नियंता वे खुद थे।

ये खासकर भारतीय समाज में खासकर सही है चूँकि यहाँ व्यक्ति की नियति उसका जन्म तय करती है। वह निम्न समाज में है, तो उसकी नियति उससे श्रेष्ठ समाज के हाथ में होती है। श्रेष्ठ समाज में जन्म लेने वाला व्यक्ति अपना नियंता खुद होता है। इसलिए वह अपने लिए छूट ले लेता है। ये छूटें ही उसकी 'लीला' या ऐय्याशियाँ बन जाती हैं, चाहे वह कृष्ण लीला हो या इन्द्र लीला। उसकी बेईमानी, उसकी चतुरता मानी जाती है। उसकी दादागिरी, उसकी शक्ति और इस प्रकार वह अपनी ऐय्याशी को भी गौरवान्वित करता है और बेईमानी को भी। हमारे पौराणिक

शास्त्र इन्हीं बेईमानियों या लीलाओं की गौरवगाथा हैं या कहे बखान हैं। स्त्री के साथ भी यही तर्क लागू होता है।

खैर, मैं भटक गई, बात प्रेम की हो रही थी। आपका सम्बन्ध किसी से देर तक न रहे, तो आपके बीच प्रेम के रिश्ते की दूरी भी बढ़ जाती है। प्रेम सापेक्षिक होता है, कभी शाश्वत नहीं हो सकता। प्रेम के लिए देह का सुनिश्चित आधार होना नितान्त आवश्यक है। देहरहित प्रेम का दावा छद्म है। प्रेम अध्यात्मिक चीज़ नहीं है बल्कि यह जीवन का अत्यन्त व्यावहारिक पहलू है।

वफादारी पितृप्रधान सत्ता का हथियार है, जिसे प्रेम के साथ उसी तरह जोड़ा जाता है जैसे किसी स्वामी के साथ उसके दास को या किसी शिकारी के साथ उसके वफादार कुत्ते को।

वफादारी करने वाला व्यक्ति मनुष्य न रहकर औजार बन जाता है या कहे कि वस्तु बन जाता है।

प्रेम अत्यधिक बढ़ जाता है तो आसक्ति में बदल जाता है। प्रेम बँध जाता है तो वफादारी या विश्वासघात का रूप ले लेता है। प्रेम टूट जाता है तो घृणा या शत्रुता का रूप ले लेता है। प्रेम कम जाता है तो सन्देह, शक-शुबहा का रूप ले लेता है। प्रेम अधिकतर परस्पर ही होता है। एकल प्रेम प्रायः पूजा, भक्ति या आस्था का रूप ले लेता है, जैसे मीरा का प्रेम।

प्रेम सहने की शक्ति देता है, इन्तज़ार की क्षमता देता है और खतरा मोल लेने की हिम्मत और हौसला भी। प्रेम त्याग की प्रेरणा और क्षमता भी देता है चूँकि प्रेम किसी बाड़ी में नहीं उपजता, अतः कई बार वह हमारे वश के बाहर हो जाता है। वह अनचाहे अचानक होता है और कभी-कभी अपनी ही गति से अचानक मिट भी जाता है। कबीर के शब्दों में कहे तो पांडित्य बनने के लिए प्रेम के ढाई आखर में पढ़ना जरूरी है।

‘युद्धरत आम आदमी’ के अंक-77 में मेरे संपादकीय ‘प्रेम न बाड़ी उपजै’ पर कई पत्र आए, जिनमें से एक पत्र युवा कवयित्री वंदना मिश्र का है, जिसका उत्तर देना मैं ज़रूर चाहूँगी चूँकि ये पत्र एक बहस का आगाज़ करता है। मेरे विचारों से काफी हद तक सहमत होते हुए भी, इन्होंने कुछ प्रश्न उठाये हैं, खासकर जब वे प्रेम को एकनिष्ठा से जोड़ती हैं और कइयों से प्रेम होने की बात पर भी वे शंका प्रकट करती हैं।

“प्रेम एक से ही हो ये आवश्यक नहीं, वफादारी पितृप्रधान सत्ता का हथियार है... वफादारी करने वाला व्यक्ति मनुष्य न रहकर औजार बन जाता है, या कहे कि वस्तु बन जाता है”, मेरी इस टिप्पणी पर उन्होंने अपनी असहमति जाहिर की है। वे लिखती हैं “रमणिका जी प्रेम तो एक से ही होगा और सबसे सद्भाव हो सकता है। अगर सबसे एक साथ प्रेम होगा तो प्रेम की एकनिष्ठा का क्या होगा? जिसे

आप पितृप्रधान सत्ता का हथियार मानती हैं, वह प्रेम का दायित्वबोध है और वह स्वयमेव होता है। (प्रेम की ही तरह), किसी वाध्यता में नहीं, प्रेम में एकनिष्ठा न हो तो उसे व्यभिचार बनने में क्या देर लगेगी? प्रेम कई से होता है पर भिन्न रूपों में, पति-पत्नी, प्रिय-प्रेयसी के संबंध में, जो पूर्ण समर्पण का भाव है, वह एकनिष्ठा ही है, वरना प्रिय का सम्मान आहत होता है, भले ही सारा पाने की जिद्द अच्छी न हो पर प्रेम में यह जिद्द होती ज़रूर है किसी शायर ने लिखा है

“दिल भी इक जिद पे अड़ा है किसी बच्चे की तरह

या तो सब कुछ ही इसे चाहिए या कुछ भी नहीं।”

और यही सब पाने की चाह एक-दूसरे की रुचि को समझने, उसे पूरा करने में शक्ति व्यय करती है। प्रेम शाश्वत नहीं होता उनका, जिन्होंने ये एकनिष्ठा टूटते देखी है या तोड़ी है। सभाओं या लेखों में कितनी भी मुक्त प्रेम की बात करें पर वफादार साथी की ज़रूरत पुरुष को भी है और स्त्री को भी और मैं ये चाहना बुरी बात नहीं मानती। हाँ प्रतिकार को व्यर्थ मानती हूँ। शायद मेरी बातें मेरे ख्याल में सदियों पुरानी हों, पर हैं तो हैं, जब तक प्रतिपक्ष मुझे प्रभावित नहीं करता।”

वंदना जी के मुख्य दो प्रश्न हैं, प्रेम में वफादारी की ज़रूरत होना, दूसरा प्रेम में एकनिष्ठा का होना। हालांकि एक-निष्ठा से ही वफादारी उत्पन्न होती है और एकनिष्ठा प्रेम होने के बाद आती है। समाज या मनुष्य की हर ज़रूरत को हम प्रेम की परिभाषा में नहीं बांध सकते चाहे वह वफादारी क्यों न हो एकनिष्ठा हो या दायित्वबोध। प्रेम न रहने पर एक-निष्ठा के नाते प्रेम निभाना प्रेम नहीं कहलाएगा। तब एकनिष्ठा फर्ज या दायित्व में बदल जाएगी। फर्ज या दायित्व से की हुई कोई भी चीज तर्क आधारित हो सकती है, भावना आधारित नहीं। प्रेम, भावना आधारित होता है। कई बार हमारा तर्क प्रेम को काटता है, विरोध करता है, फिर भी प्रेम बरकरार रहता है और तर्क की बात नहीं मानता। हीर-रांझा हो या सोनी-महिवाल या लैला-मजनू या किंग एडवर्ड का तलाकशुदा औरत से प्रेम, यहाँ तर्क नहीं था, भावना थी और यह भावना ही मृत्यु तक को वरण करने के लिए प्रेमी या प्रेमिका को उत्साहित करती है। ये वफादारी नहीं प्रेम था। हीर ने पति से वफादारी तोड़ी और रांझे से प्रेम किया। कच्चे घड़े पर दरिया में उतरते हुए सोनी के तर्क ने उसे ज़रूर बरजा होगा लेकिन प्रेम उसे खींचकर दरया में ले गया। यह भावना थी, एकनिष्ठा नहीं। जहाँ तक वफादारी की बात करती हैं वंदना जी, वफादारी की ज़रूरत हो सकती है। पर ज़रूरत होना, व्यक्ति का अपना अलग पहलू है। प्रेम एक भावना है, जो मन में चाहे अनचाहे अनजाने जगती है, हमारा बहुत वश नहीं चलता उस पर। वफादारी उस प्रेम को लंबे अरसे तक चला सकती है लेकिन वफादारी के चलते प्रेम बँधा नहीं रह सकता। प्रेम मुक्ति है, बंधन नहीं। इसलिए वफादारी हो या एकनिष्ठा, ये प्रेम की शर्त नहीं है, ये दिमाग की शर्तें हैं या समाज के नियम हैं,

व्यक्ति या समूह हितार्थ हैं। इन शर्तों की डोर से प्रेम को किसी खूँटे से नहीं बांधा जा सकता।

वंदना जी, प्रेम का पहला प्रेरक, आकर्षण होता है। ये ज़रूरी नहीं कि एक ही व्यक्ति के प्रति प्रेम भाव उपजे। हमारे आकर्षण और उससे उपजे प्रेम का केन्द्र, एक से अधिक व्यक्ति, एक ही समय पर भी हो सकते हैं। सबके आकर्षण-बिन्दु भले भिन्न हों पर एक जैसा या कमोबेश मिलते-जुलते रूप में कइयों से प्रेम एक समय में संभव है। विडम्बना यह है कि हम सत्य को स्वीकारते नहीं, चूँकि समाज ने हमें कई वर्जनाओं से बांध रखा है। समाज में एक व्यक्ति से प्रेम करने के बाद, या करते हुए दूसरे से प्यार करना व्यभिचार की कैटेगरी में रखा जाता है, इसलिए हम उसे नकारते रहते हैं। खुद अपने को धोखा देते रहते हैं। एकनिष्ठा, वफादारी के दायरों में बँधे हम प्रेम की प्रेरणा या प्रेरणाओं को स्वीकारने से इनकार करते रहते हैं। दरअसल, 'व्यभिचार' शब्द ही पुरुषों का गढ़ा हुआ है, खासकर पितृसत्तात्मक समाज का। विवाह प्रथा के बाद ही ये शब्द गढ़ा गया। 'विवाह' शब्द के पहले 'व्यभिचार' शब्द का अस्तित्व ही नहीं था चूँकि ये पति-पत्नी के रिश्ते के इतर संबंधों को लेकर ही गढ़ा गया था। परिवार की इच्छा के विरुद्ध बेटी या बेटे के प्रेमाचरण को व्यभिचार नहीं कहा जाता। व्यभिचार शब्द पुरुषों की बजाय स्त्रियों पर अधिक लागू किया जाता है। पुरुष ने कई विवाह किए, तो वे भी व्यभिचारी नहीं माने गए। स्त्री ने एक से अधिक को चाह लिया तो व्यभिचारिणी हो गयी। ऐसे ये व्यभिचार शब्द भी सापेक्षिक है। यह समय और समाज की रीतियों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। द्रौपदी के पांच पति थे, उसे व्यभिचारिणी नहीं कहा गया। आप द्रौपदी के संदर्भ में इस 'एकनिष्ठा' का क्या करेंगी? कहाँ टिकेगी ये? प्रेम के मिथक पुरुष श्री कृष्ण ने तो शताधिक स्त्रियों से प्रेम किया तो क्या प्रेम के संदर्भ में आप उन्हें बेवफा या विश्वासघाती कहेंगी? एक साथ अनेक गोपियाँ श्रीकृष्ण को प्यार करती थीं और वे सब आपस में सहेलियाँ भी थीं। अगर वफादारी की बात होती तो वे आपस में सहेली नहीं, शत्रु होतीं। कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। पहाड़ी इलाकों में, जैसे मेघालय में आज भी एक स्त्री कई पतियों से ब्याह करती है। हाल तक पंजाब के जाटों व दलितों में भी यह प्रथा थी, समाज में उसकी स्वीकृति थी। दरअसल व्यभिचार शब्द तो सामाजिक व्यवस्था ने गढ़ा है प्रेम का इससे नाता या ताल्लुक ज़रूरी नहीं। सच तो यह है कि यह दो देहों के मिलन के औचित्य, तरीके या ढंग से संबंधित है। व्यभिचार में यौन-इच्छा की पूर्ति, लालच व स्वार्थ भी कारक हो सकते हैं या दो व्यक्तियों से एक साथ आकर्षण या एक साथ प्रेम की उत्कट इच्छा भी देहों के मिलन को प्रेरित करता है। व्यभिचार जन्म प्रेम से भी हो सकता है।

खैर, प्रेम समाज की स्वीकृति-अस्वीकृति नहीं जानता और वह एकतरफा भी नहीं होता, परस्पर होता है। एक तरफा प्रेम श्रद्धा या भक्ति की कैटेगरी में चला

जाता है चूँकि उसमें आस्था होती है और आपकी तथाकथित एकनिष्ठता व वफादारी भी होती है। जैसे मीरा अपने आराध्य के प्रति सबसे ज्यादा एकनिष्ठ और वफादार थी। प्रेम में आकर्षण होता है, भावना होती है, रति भी होती है, इसलिए देह भी होती है, आपकी बात मैं मानती हूँ कि केवल और केवल देह ही प्रेम का आधार कभी नहीं हो सकती। केवल देह के लिए प्रेम, आसक्ति होता है। एक से अधिक के प्रेम को हम व्यभिचार कहकर नकार नहीं सकते। वह प्रेम भी हो सकता है। एक दूसरी बात यह भी कि प्रिय प्रेयसी प्रेम भाई-बहन के स्नेह, मां-बाप की ममता जैसे दूसरे संचारी भावों से सर्वथा अलग है, इनकी शर्तें अलग हैं।



वंदना मिश्र ने एक बार फिर अपने पत्र में प्रेम पर कुछ सवाल उठाए हैं, जिनका उत्तर देना मैं ज़रूरी समझती हूँ। मैंने पहले भी यह कहा है कि प्रेम कड़्यों से हो सकता है और कम या ज्यादा भी हो सकता है। मैंने इसके समर्थन में द्रौपदी का दृष्टान्त दिया था। वंदना जी ने भी द्रौपदी को ही अपना तर्क सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त बनाया है। ऐसे तो सापेक्षता के सिद्धांत के अनुसार, हम किसी भी दृष्टान्त को अपने दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्यायित कर सकते हैं। फिर भी वंदना जी अपनी व्याख्या के अनुसार तर्क देती हैं कि बाकी पांडवों की अपेक्षा द्रौपदी अर्जुन से अधिक प्रेम करती थी। द्रौपदी का अर्जुन से ज्यादा प्रेम, इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि प्रेम एक साथ कड़्यों से हो सकता है, भले वह कम या ज्यादा हो। द्रौपदी की निष्ठा सबसे थी और प्रेम भी सबसे था पर अर्जुन से अधिक था। ऐसा तो होता ही है कड़्यों से एक साथ प्रेम का अर्थ एक समान, एक स्तर व एक जैसा प्रेम का होना नहीं होता। वह गुणात्मक और गणनात्मक दोनों तौर पर कम, ज्यादा या भिन्न होता है। तभी कड़्यों से प्रेम हो सकता है। कड़्यों से प्रेम करने वाली स्त्री भी किसी के लिए मर मिट सकती है या किसी से घृणा कर सकती है। मनुष्य की ये स्वभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। इन प्रवृत्तियों के विपरीत आचरण करना हमने तथाकथित संस्कृतियों और सभ्यताओं के परिष्कृत या अनुशासित होने की प्रक्रिया के क्रम में सीखा है।

प्रेम में भावना निहायत ज़रूरी है, मैं यह मानती हूँ। तर्क में प्रेम नहीं, सोच, पसन्द या लगाव होता है। भावना के अधिक्त्व के कारण त्याग की भावना जगती है, जो हीर-रांझा, सोनी-महिवाल या लैला-मजनूँ में थी। पर यह ज़रूरी नहीं कि हर बार प्रेम में भावना त्याग का रूप ले ले। स्त्रियाँ प्रायः प्रेम से वंचित रखी जाने के लिए बाध्य की जाती हैं। समाजिक वर्जनाओं या बन्दिशों के चलते वे सहज रूप से अपने प्रेम के स्थान पर पति को स्वीकार कर अपना प्रेम स्थानान्तरित तो कर लेती हैं पर पुराने प्रेमी के प्रति उनकी कुछ न कुछ आसक्ति कुछ समय तक बनी ही रहती है। वे दोनों को प्रेम करती रहती हैं, भले इस सत्य को स्वीकारती नहीं।

इसे प्रेम का व्यवहारिक रूप कहा जा सकता है, जिसे द्रौपदी या कृष्ण ने किया। मीरा में भावना का आधिक्य था तो किंग एडवर्ड में भी भावना और त्याग का। ऐसी स्थितियां प्रतिरोध की ताकत ही पैदा करती हैं। प्रेम के साथ, जब जिद और संघर्ष जुड़ जाता है तो वह बलिदान या त्याग की ऊँचाई पर पहुंच जाता है।

रही कइयों से प्रेम करने वाली स्त्रियों का इतिहास न बनने की बात। इतिहास तो प्रेम का भी बनता है और युद्ध व शत्रुता और घृणा का भी। कइयों से प्रेम करने वाली स्त्रियां चूँकि लीक से हटकर एकनिष्ठा को उलांघ कर चलाती हैं उनका इतिहास तो और भी पहले दर्ज हो जाता है, भले उसे हेय माना जाता है। क्लियोपाट्रा इसका एक उदाहरण है। प्रेम करने वाला इतिहास बनाने के लिए प्रेम नहीं करता प्रेम हो जाता है, इसलिए वह प्रेम करता है। हाँ! प्रेम निभाने के लिए त्याग ज़रूरी है यह मैं भी मानती हूँ, पर प्रेम निभाना और बात है और प्रेम करना अलग बात!

जहाँ तक सोहनी के प्रेम की एकनिष्ठा की बात है, तो इसे तो मैंने कभी नहीं नकारा। वंदना जी ने सोहनी के उसी स्तर के कई प्रेमी होने का प्रश्न उठाते हुए पूछा है कि क्या उस स्थिति में भी वह घड़े पर नदी पार करती? मैं फिर दोहराना चाहूँगी कि प्रेम के कई स्तर होते हैं। प्रेम की तीव्रता ही, उसकी एकनिष्ठा और त्याग का स्तर तय करती है। मैंने तो स्वयं कहा है कि प्रेम कम या ज्यादा हो सकता है एक या एक से अधिक से हो सकता है। कइयों से प्रेम होने पर यह सवाल हो सकता है कि निष्ठा किसके साथ कितनी है? पर निष्ठा तो प्रेम नहीं होती न, वह तो वफादारी या कर्तव्यबोध से जुड़ी भावना है। सोहनी अगर कच्चे घड़े पर नदी पार करने नहीं भी जाती तो भी उसके प्रेम को तो नकारा नहीं जा सकता न! उसका तीव्र न होना स्वीकारा जा सकता है। तीव्रता आवेग से जुड़ी है प्रेम की तीव्रता कुरबानी के लिए प्रेरित करती है पर तीव्रता का न होना ही इस बात का सबूत नहीं होता कि प्रेम नहीं है। प्रेम धीरे-धीरे, धीमे-धीमे, हौले-हौले होता है पनपता है बढ़ता है। प्रायः प्रेम हो जाता है और तब अहसाह होता है कि प्रेम हो गया।

वंदना जी ने कृष्ण का दृष्टान्त भी दिया है और उनका कहना है कि कृष्ण जितना प्रेम राधा से करते थे उतना बाकी गोपियों से नहीं। इसे यूँ कहें कि कृष्ण का प्रेम कई गोपियों से था पर राधा से ज्यादा था तो ये राधा की तरफ से बयान बन जाता है। गोपियों का बयान इस प्रकार होगा “क्या हुआ अगर कृष्ण कई गोपियों से प्रेम करता है हम सब तो उससे प्रेम करती हैं न।” यह जानते हुए भी कि कृष्ण कइयों से प्रेम करता है, वे केवल कृष्ण से ही प्रेम करती थीं। तर्क से हम यह निष्कर्ष संभवतः नहीं निकाल सकते। भावना ही ऐसे प्रेम की जननी होती है। तर्क पैदा होने के साथ-साथ ही नैतिक-अनैतिक, निष्ठा-अनिष्ठा और वफादारी-विश्वासघात के प्रश्न पैदा होने लगते हैं, जिन्हें समाज निर्धारित करता है, जबकि प्रेम समाज व उसके ऐसे तर्कों से परे या ऊपर होता है।

## अभिलाषा और सपने का मरना ही बूढ़ा होना है

मूल्यों में हास आज की सबसे बड़ी त्रासदी है, इसलिए युवाओं के सामने एक बड़ी चुनौती है नए मूल्यों का निर्माण करना। सच तो यह है कि उनके सामने आज कोई सपना ही नहीं है। न अपने लिए, न समाज के लिए। और न ही देश के लिए। भविष्य के बारे में भी वे दुविधा में हैं। एक तरफ पुरानी रूढ़ियों, संस्कारों और तथाकथित भारतीय संस्कृति का दबाव और दूसरी तरफ आधुनिकता की होड़। वैश्वीकरण और प्रौद्योगिकी के प्रति विस्मय भरी जिज्ञासा तो है पर मानवता के प्रति जो एक दृष्टिकोण होना चाहिए था, वह उपभोक्तावाद की अंधी दौड़ में कहीं खो गया है। वह हर चीज का शार्टकट खोजने लगा है। लक्ष्य या सपना जो भी कह लें इसका निर्णय युवा नहीं कर पा रहा। 'वह क्या बनना चाहता है?', 'क्या करना चाहता है?', 'क्या वह केवल अपने लिए है या पूरे समाज व देश के लिए है?' इसका चयन करना एक चुनौती भरा कार्य है। यही चुनाव की क्षमता आज उसके पास नहीं है। वह हाई-फाई जीवन तो चाहता है पर मेहनत करके नहीं, शार्टकट से। इसके कई कारण हो सकते हैं, लेकिन उन कारणों को परास्त भी तो स्वयं उसी को करना है, चूँकि परिवर्तन की प्रक्रिया का औजार युवा ही होता है। आज युवा पीढ़ी की दिशा क्रांति की बजाय प्रतिक्रांति की तरफ ले जाने वाली बन रही है। इसे रोकने वाला भी युवा-वर्ग को ही होना होगा न! इसलिए सबसे बड़ी चुनौती प्रतिक्रांति को रोकना है, अंधी होड़ को रोकना है।

देश की आजादी से पहले देश के युवकों के पास एक सपना था 'देश आजाद कराने का'। उसी में एक सपना जुड़ा था 'सामाजिक सुधार का'। उन दिनों बिना रस्मो-रिवाज, बिना बरात ले जाए, सादे तौर-तरीके से बिना दहेज ब्याह करना, विधवा और वेश्या तक से ब्याह करके उन्हें पुनर्वासित करना तथा समाज में प्रतिष्ठा दिलाने के लिए सामने आना जैसे कई अभियान चलते थे। आपसी मिल्लत के लिए सांप्रदायिक सद्भाव और अस्पृश्यता मिटाओ जैसी कई मुहिम भी चलाई जाती थीं। उन दिनों साहित्य में जहाँ ललकार कर युवक कहते थे 'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है, देखना है जोर कितना बाजू-ए-कातिल में है', तो दूसरी तरफ उनकी अभिलाषा 'पुष्प की अभिलाषा' कविता में मुखरित हो कह उठती थी 'चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ'। युवतियाँ भी 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली



रानी थी' कहकर टोलियों में निकल आती थीं और कवि की वाणी 'मधुशाला' को भी 'मंदिर-मस्जिद की मिलन-भूमि' में बदल देती थीं। 'ठाकुर का कुआँ' और 'गोदान' में अछूत और किसान जग रहा था तो 'चित्रलेखा' में नारी शुचिता पर प्रश्न उठने लगे थे और नारी अपनी पहचान के लिए, मुक्ति के लिए अपनी देह का प्रदर्शन नहीं तर्क करने लगी थी, जबकि आज की युवा पीढ़ी नारी मुक्ति को उसकी देह का प्रदर्शन मात्र मानने लगी है। युवा नारी मन भी अपनी विद्वता, इच्छा-शक्ति, दमखम और मुक्त सोच की बजाय पुरुष मन को लुभाने के लिए रूढ़िवादी परंपरा में ही पुराने के बदले नये प्रसाधन, नये अंदाज, नये तौर-तरीकों का सहारा ले रहा है। नारी का अपनी खुद की अस्मिता की बजाय दैहिक पहचान पर ज्यादा जोर है, वैचारिक पहचान पर कम। जबकि देह एकदम निजी मामला माना जाना चाहिए। इसीलिए आज नगरों का साहित्य कुंठा से ज्यादा भरा है। लिजलिजा हो रहा है एक ही से प्रतीक, एक ही से मिथक, एक ही सा रूप गढ़ते-गढ़ते। इसीलिए युवा पीढ़ी, जो दलित-आदिवासी के उत्पीड़न अथवा लिंग-भेद की त्रासदी के खिलाफ खड़ी हो रही है, का साहित्य धरती से जुड़े होने के कारण ज्यादा चोट करता है। इसके प्रतीक-रूपक-मिथक भी नए हैं। आज दलित, आदिवासी और महिलाओं की युवा पीढ़ी का अपने सदियों से उपेक्षित-वंचित समाज के परिवर्तन की चुनौती को स्वीकारने की तरफ रुझान बढ़ा है इसलिए वे नये रूपक, प्रतीक और मिथक गढ़ने लगे हैं और अपने भोगे हुए सत्य को समाज के सत्य से समायोजित कर प्रस्तुत कर रहे हैं। आज उनके लिए चुनौती है ऐसे समृद्ध वाङ्मय को तैयार करने तथा अपना इतिहास खोजने की जिसे लोगों ने या तो मिटा दिया था या विकृत कर पेश किया था।

आज युवाओं के सामने एक और अति महत्वपूर्ण चुनौती है, समाज की मानसिकता बदलने की, समाज बदलने की, समता, आजादी, भाईचारे को ज़मीन पर उतारने की और मनुष्य को धर्म, जाति और नस्ल से मुक्त करवाकर मनुष्य बनाने की। इसलिए भारत के युवा-वर्ग की आज के संदर्भ में सबसे बड़ी चुनौती है पूरे देश को गुजरात न बनने देने की।

क्या हुआ, कैसे हुआ कि सब कुछ गुम हो गया और लोग बदलकर गुजरात बन गए। आज का युवा जैसिकालाल की हत्या नीतिश कटारा के कत्ल को दस्तूर बनाने लगा है। नन्दा परिवार के उस लड़के की हरकत में बदल गया है युवा-वर्ग, जो तेज गाड़ी की रफ़्तार से बाइस लोगों को रौंदता हुआ निकल गया और साक्ष्य मिटाने में जुट गया। आज हर्षद मेहता बनने का सपना पालने लगे हैं युवा। नीचे तक परकोलेट हुई है यह मानसिकता। हेंदेगढ़ा में भी कुर्मी युवाओं ने एक दलित युवा को पत्थरों से कुचलकर इसलिए मार दिया कि उसने दलित होकर कुर्मी (पिछड़ी जाति) लड़की से विवाह किया। और ऐसे कितने कांड गिनाएं हम? पढ़ी-लिखी

बुद्धिजीवी पीढ़ी जो नक्सलवादी बनकर जेलों में सड़ी और मृत्यु को वरा, भले उसे कामयाबी नहीं मिली, उसका रास्ता सही था या ग़लत इस पर बहस हो सकती है, लेकिन उनके सपने और प्रतिबद्धता पर उंगली नहीं उठाई जा सकती। और आज एक यह पीढ़ी है जो गुजरात घटा रही है, जो अयोध्या में इतिहास को दरकिनार कर रही है या इतिहास का बदला लेने पर उतारू है। कौन है आखिर इनके पीछे युवा ही न? तो सबसे बड़ी भूमिका युवाओं की वर्तमान स्थिति में अगर कोई हो सकती है तो वह है नए मूल्यों का निर्माण। समता, भाई-चारा और आजादी हासिल करने की मुहिम चलाना, देश को सांप्रदायिकता की भारी विकृत मानसिकता के ऑनस्लॉट से बचाना। संकीर्णता और कट्टरता को रोककर संवेदनाओं को जगाना। दरअसल, सांप्रदायिकता का ये हमला आज कई संस्करणों में हमारे सामने आया है। हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा हो या हिन्दू-ईसाई का या जातीय स्तर पर या दलित-आदिवासी का या लिंग-भेद का। इस सब तरह के हमले और उत्पीड़न एक खास किस्म की कट्टरवादी, तानाशाह और सामंती, सांप्रदायिक सोच के नतीजे हैं जिसके अलग-अलग रूपों में अलग-अलग संस्करण हैं, जो भयावह हैं। आज का युवा समाज बनाने में सबसे बड़ी भूमिका निभा सकता है यदि वह मनुष्य को मनुष्य के रूप में स्वीकार करना सीख जाए।

जिस दिन मनुष्य की अभिलाषा और उसका सपना मर जाता है, उस दिन वह बूढ़ा हो जाता है। जिनके पास सपना नहीं होता उनके पास भविष्य नहीं होता। यह बात जितनी युवाओं के लिए सत्य है, उतनी ही कौमों और देशों के लिए भी। मेरी नज़र में सौ वर्ष का होने पर भी कोई व्यक्ति युवा रह सकता है, अगर उसे परिवर्तन और विकास में अपना भविष्य नज़र आता है और बीस वर्ष का युवा भी अगर मायूस होकर बैठ जाता है तो युवावस्था में ही वह बूढ़ा हो जाता है, जड़ हो जाता है। मैं अपने को मन से कभी भी बूढ़ा नहीं मानती क्योंकि मेरे पास समाज को बदलने का लक्ष्य है, सपना है, विश्वास और इच्छा-शक्ति है।

जहाँ तक चुनौतियों के अंतर की बात है तब और आज के युवाओं की चुनौतियों में अंतर तो बहुत है। आज व्यक्ति अपने विकास को अपना भविष्य मानता है चाहे वह समाज की कीमत पर ही क्यों न हो। इसलिए समाज बदल नहीं पाता। व्यक्ति समाज पर हावी होकर उसे लूटने लगता है। यही मानसिकता भ्रष्टाचार की जननी है। सामंती सोच पहले भी थी, लेकिन इस रूप में नहीं थी और फिर वह अपने-अपने क्षेत्र में सीमित थी। आज ग्लोबलाइजेशन के युग में यह व्यक्तिगत होड़ और व्यक्तिगत स्वार्थ सर्वोपरि हो गया है। समाज गौण हो गया है यही अंतर है सोच में। आज और बीते कल में। पहले भी शोषण था, पर सामाजिक स्तर पर था। अब व्यक्तिगत स्तर पर विकसित हुआ है। व्यक्तिगत बदलाव नहीं व्यक्तिगत विकास, उन्नति और स्वार्थ!

**अभिलाषा और सपने का मरना ही बूढ़ा होना है**

दलितों-आदिवासियों के प्रति आज नौजवानों का रुख स्कूल, कॉलेजों में कितना असहनीय है इसका अंदाजा दिल्ली में बैठकर नहीं लगाया जा सकता। लेकिन कभी इस समाज के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर चलने का सपना भी हम ही लोगों ने देखा था और जंगलों में जाकर इनके आंदोलनों को आगे बढ़ाया था। मामा बालेश्वर दयाल और कामरेड गोदावरी जैसे लोग या कई अन्य, दूर-दराज के जंगलों में इनके लिए कार्यरत रहे, लेकिन आज कितने लोग हैं जो इनके बारे में उस तरीके से सोच रहे हैं। यह उन दिनों की युवा पीढ़ी ही थी जो परिवर्तन के लिए कुछ करना चाहती थी। आज चर्चा में, बुद्धि-विलासिता की बहसों में परिवर्तन की चर्चा ज़रूर है, पर अमल में नहीं है। दलित, आदिवासियों और महिलाओं की दशा खासकर भारत में, भारतीय मानसिकता की विकृतियों की देन है, जिसे मनुष्यता का दर्जा दिलाना भी आज के युवा-वर्ग के लिए एक चुनौती है। युवाओं की बड़ी संख्या, जो अंधेरे में है, वह इन्हीं वर्गों में है। जब तक उनको रौशन करने का सपना भारतीय युवा के सपनों में मुख्य स्थान नहीं लेगा तब तक समाज में परिवर्तन का सपना अधूरा रहेगा पूरा नहीं होगा!

## जनजातीय क्षेत्र में भाषायी अस्मिता आन्दोलन

दरअसल भाषाएँ मरा नहीं करतीं बल्कि मार दी जाती हैं अथवा मरने को मजबूर की जाती हैं या हो जाती हैं। जहाँ एक ओर भाषायी साम्राज्यवाद अपना वर्चस्व बढ़ाने हेतु भाषाओं को मारने का षड्यंत्र रचते हैं, वहीं दूसरी ओर स्वयं अपने ही भाषा-भाषियों की उपेक्षा भी भाषाओं को मरने को मजबूर कर देती है। एक तीसरा तरीका है समायोजन, जिसके माध्यम से बड़ी भाषाएँ छोटी भाषाओं को हजम कर जाती हैं। हालाँकि इतना सब होने पर भी कतिपय छोटी भाषाएँ अपने पीछे अपने होने के कुछ सुराग छोड़ ही जाती हैं, जो समायोजित भाषाओं में शहीद की तरह नज़र आते रहते हैं।

यह सर्वविदित सत्य है कि किसी कौम या देश को खत्म करने का सबसे अच्छा हथियार है, उसकी भाषा को नष्ट कर देना। दरअसल भाषा ही संस्कृति व संप्रेषण की वाहक होती है और उसे खत्म करने का अर्थ है संस्कृति और संप्रेषण को खत्म करना। यू.एन.ओ. की रपट के अनुसार आज हर तीन मिनट पर एक 'बोली' मरती है।

भाषायी साम्राज्यवाद तोपों या बंदूकों के माध्यम से नहीं आता। नगुगी व थ्योंगो के अनुसार “भाषा सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है, जिसके जरिए आत्मा को वश में किया गया और उसे बंदी बना लिया गया।” शारीरिक गुलामी के लिए गोलियों को साधन बनाया गया लेकिन मानसिक और आत्मिक गुलामी भाषा के जरिए थोपी गयी। सारी औपनिवेशिक शक्तियों ने गुलाम देशों पर गुलामी थोपी ही नहीं, बल्कि उन देशों से लौट आने के बाद भी गुलामी को बरकरार रखा।

दरअसल, युद्ध की भौतिक हिंसा के बाद स्कूल-कॉलेजों में मालिक देश की मनोवैज्ञानिक हिंसा शुरू होती है, जो शारीरिक हिंसा से अधिक बर्बर होती है। भारत में भी अंग्रेजों ने हमारे मानस पर कब्जा किया और अपनी भाषा हम पर लाद गये। आज भी अंग्रेजीदा होना आम भारतीय जन के लिए गौरव की बात है। इसका सटीक उदाहरण है चन्द्रभान जी द्वारा राष्ट्रीय सहारा में छपा बयान, जिसमें उन्होंने सभी भारतीय भाषाओं की छुट्टी करके अंग्रेजी अपनाने का सुझाव दिया है और उनके द्वारा हाल ही में मैकाले का जन्मदिन मनाया जाना।

भारत के ठीक विपरीत अफ्रीका के किसानों ने अपनी भाषा को केवल ज़िन्दा ही नहीं रखा, बल्कि उसे अंग्रेजी के बरक्स खड़ा कर दिया, जबकि वहाँ के बुद्धिजीवी

वर्ग ने अंग्रेजी में लिखना ही नहीं शुरू कर दिया था बल्कि वे अंग्रेजी के पक्ष में तर्क भी देने लगे थे। यह वर्ग अपनी भाषा में लिखने और बोलने को हेय मानने लगा और अफ्रीकी भाषा बोलने वाले को दण्ड दिया जाने लगा। यह तो 1977 में न्गुगी व थ्योंगो ने अपनी भाषा 'गीकियू' में लिखने का संकल्प किया और हर विधा में लिखा और यह सिद्ध कर दिया कि अफ्रीकी साहित्य केवल वहाँ के किसानों-मजदूरों की भाषा में ही लिखा जा सकता है। अपनी भाषा में लिखना वहाँ आत्मसम्मान व आज़ादी का पर्याय बन गया। इस प्रकार भाषाएँ कैसे विदेशी भाषा-भाषी सत्ता को अपने देश से निकाल बाहर फेंकने में सक्षम हो सकती हैं, यह हम थ्योंगो के संकल्प से सीख सकते हैं। उन्होंने अपने देश में भाषायी वर्चस्व कायम नहीं होने दिया।

न्गुगा व थ्योंगो ने अपने इस संघर्ष में उपन्यास, कहानी, नाटक लिखने के अतिरिक्त आम आदमी की संघर्ष में भागीदारी करने के लिए छोटे-छोटे पम्पलेट, पोस्टर और लघु-पत्रिकाओं का सहारा लिया। उन्होंने स्वयं भी लिखा और अन्य लोगों को लिखने के लिए प्रेरित भी किया। डॉ. अम्बेदकर ने भी भारत के जब दलित प्रश्नों को उभारा और दलित की अस्मिता, पहचान, आत्मसम्मान और उच्च व जातीय लोगों के वर्चस्वाद से उनकी मुक्ति की लड़ाई छेड़ी तो उन्होंने अखबार और लघु-पत्रिकाएँ निकालीं और भारतीय मानसिकता यानी हिन्दुवाद या कर्हें मनुवाद के मुकाबिल आपना ढांचा खड़ा किया। उन्होंने सभी को अपनी भाषा में लिखने को प्रेरित किया ताकि आम जन में उनकी बात जा सके। सत्ता की भाषा तो सदैव आमजन विरोधी होती है। वह दलित विरोधी भी थी। उनसे प्रेरित होकर दलितों ने अपनी ग्रामीण मराठी और ऊबड़-खाबड़ बोलियों में ही अपना लेखन शुरू किया। उन्होंने कई नई पत्रिकाएँ भी निकालीं जैसे अम्ही, निकाय, जातक, कोंडी, सिंहगर्जना, दलित क्रांति, संसद, समाज, विद्रोह, अस्तित्व, प्रमेय, समुचित और हिन्दी में भीम, प्रज्ञा, दलित टुडे, अंगुत्तर, पूर्व देवा आदि।

दरअसल, सदियों से शासक वर्ग भाषा के माध्यम से ही अपनी सत्ता कायम रखता रहा है। सत्ता की भाषा सदैव अवाम की भाषा से भिन्न होती रही है। ये भी भाषायी साम्राज्यवाद का एक रूप है। आर्यों ने जिस तरह यहाँ की भाषाओं को नकार कर, संस्कृत के माध्यम से भारत पर राज किया, वैसे ही मुग़लों ने फारसी के माध्यम से और अंग्रेजों ने अंग्रेजी के माध्यम से शासन चलाया और आज आज़ाद होने के बाद हम भी अंग्रेजी में ही राज चला रहे हैं।

साहित्य भी चूँकि दरबारों और राजघरों से पोषित रहता था, इसलिए साहित्यकारों ने भी सत्ता का अनुकरण किया। रुतबा, सम्मान और पुरस्कार वहीं मिलता था न! हालाँकि इसके विपरीत लोक-साहित्य, भक्ति-साहित्य भाषाओं और बोलियों में बोला और लिखा जाता था, सो वह पनपता रहा। जन-भाषाएँ तो अपने बल पर समृद्ध होती रहीं, पर विडम्बना यह है कि धर्मशास्त्र भी सत्ता की भाषा में ही लिखे जाते रहे हैं। तुलसी

ने जब अवधी में 'रामचरित मानस' लिखी तो उनका विरोध ही नहीं हुआ बल्कि उनकी पाण्डुलिपि ही गायब कर दी गयी।

आज भी हमारे भारत के साहित्यकार नोबेल पुरस्कार पाने के लिए अपनी भाषा की बजाय अंग्रेजी में लिखने की आकांक्षा पाल रहे हैं। कई लेखक तो लिखने का प्रयास भी कर रहे हैं। यह टिप्पणी अनुवादकों के लिए नहीं है। अनुवाद तो साहित्यिक आदान-प्रदान के लिए व्यक्तिगत तौर पर एक सार्थक कदम या प्रयास होता है।

आज बाज़ारवाद और वैश्वीकरण की अवधारणा भाषाओं एवं बोलियों को समृद्ध करने की बजाय, उन्हें विकृत कर रही है। यह सही है कि बाज़ार बढ़ाने के लिए अब विदेशी और देशी मीडिया हिन्दी को अपना रहा है, जिससे हिन्दी की व्यापकता कुछ बढ़ रही है, पर उससे हिन्दी 'हिंग्लिश' भी बन रही है। दूसरी भाषाओं के शब्द हमारी भाषाओं में आएँ, इससे किसी को भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए लेकिन इसके पीछे मंशा भाषा के विकास की होनी चाहिए, न कि उसे विकृत करके बाज़ार व बाज़ार के लिए लाभप्रद औजार बनाने या हड़पने की। इससे भाषा की गरिमा और गम्भीरता तो कम होती ही है बल्कि उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है। ये बड़ी एक चुनौती है लघु-पत्रिकाओं के समक्ष कि वे अपनी परम्पराओं को विकृत और बाज़ार होने से बचाएँ चूँकि अन्ततः इन विकृतियों द्वारा मूल भाषा को हड़प या हजम करने का खतरा होता है।

सम्मान और पुरस्कार के अतिरिक्त, भाषायी वर्चस्ववाद का एक और हथियार है रोज़गार। खासकर विकासशील देशों में रोज़गार की कमी युवकों को किसी भी हद तक जाने के लिए उकसाती है। अंग्रेजीदां लोगों को रोज़गार मिलता है, इससे लोग अंग्रेजी पढ़ने लगे हैं और अपनी भाषा छोड़ रहे हैं। हिन्दी में भी रोज़गार की कुछ गुंजाइश है तो अहिन्दी भाषी भी हिन्दी पढ़ रहा है। वे हिन्दी या अंग्रेजी पढ़ें इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं पर मजबूरीवश पढ़ना ही वर्चस्ववाद है। सरकार चाहे तो उनकी भाषाओं को भी रोज़गारमुखी बना सकती है।

दरअसल जनता के बहुत ही कम हिस्से की पहुँच शासकीय भाषाओं तक होती है, इसी कारण इन भाषाओं का जानकार वर्ग उसका पूरा लाभ उठा लेता है। आम अवागम या बहुसंख्यक जनता अपनी ही भाषा/ बोली तक सीमित होती है। स्कूलों तक भी उसकी पहुँच नहीं होती लेकिन उसी हिस्से के लोग अंग्रेजी या देश की राजभाषा हिन्दी जानने की आकांक्षा पालने लगते हैं ताकि उन्हें रोज़गार और प्रतिष्ठा मिल सके। दरअसल हम लोगों ने अपनी मानसिक गुलामी के चलते अंग्रेजों को प्रतिष्ठा का आसन व रुतबा तो दे ही दिया है पर साथ-साथ उसे इज्जत और शासकीय रूआब से भी लैस कर दिया है। जैसे दारोगा का डण्डा न चलने पर भी एक शक्ति का प्रतीक होता है और मन में भय पैदा करता है। उसी तरीके से अंग्रेजी का ज्ञान आम जनता पर एक रौब गालिब करता है और जिन्हें अंग्रेजी की कतई

दरकार नहीं या जहाँ अंग्रेजी की कतई जरूरत नहीं, वे अंग्रेजी के शब्द बोलने में अपने को गौरवान्वित समझते हैं। उदाहरण स्वरूप पढ़े-लिखे पति-पत्नी जब झगड़ते हैं तो वे अंग्रेजी में झगड़ने लगते हैं।

दरअसल, किसी भी भाषा के साथ सीधे-सीधे किसी समूह या क्षेत्र विशेष की अस्मिता जुड़ी होती है, संस्कृति जुड़ी होती, भूगोल जुड़ा होता है और जुड़ा होता है उसका संघर्ष और इतिहास शौर्य और विद्रोह, जो उन्हीं भाषाओं में प्रकट हो सकता है। वे वहाँ के भूगोल और इतिहास के ताने-बाने से बुनी होती हैं। उनमें रसी-बसी होती है वहाँ की ऋतुएँ, रस-रंग, वेष-भूषाएँ, स्वभाव व प्रकृति, विश्वास, मिथक, मुहावरे व किंवदंतियाँ! इन सूक्ष्मताओं का जल्दी ही किसी दूसरी भाषा में समायोजन इतना आसान नहीं होता, चूँकि उनमें सदियों का अन्तराल भी निहित होता है। वर्चस्ववादी भाषाएँ जो आमतौर से सत्ता और शासन की हथियार होती हैं, इन भाषाओं को हड़प लेती हैं या खत्म कर देती हैं। ये क्षेत्रीय बोली/भाषाएँ लोकतांत्रिक होती हैं और सभी भाषाओं और बोलियों से परस्पर आदान-प्रदान करते हुए जिंदा रहती हैं। 'कोस-कोस पर पानी बदले, पाँच कोस पर वाणी' की कहावत के अनुरूप ये भिन्न तो होती हैं पर नदी की तरह सतत् बहती भी रहती हैं।

आज जब शासन या सत्ता की गलत नीतियों, वर्चस्ववादी रुझान, वैश्वीकरण, बाजारवाद एवं शक्तिशाली भाषा-भाषी समाज के भाषायी साम्राज्यवाद के कारण या रोज़गार की खोज में पलायन कर लोगों को दूसरे क्षेत्रों में जाना पड़ता है, तो सर्वाधिक चोट भाषा पर ही पड़ती है। उन्हें दूसरे स्थान की भाषा सीखनी ही पड़ती है, चूँकि उनकी अपनी बोली या भाषा रोजगार हेतु या जिन्दा रहने के लिए, न तो उनके अपने गृह क्षेत्र में और न ही बाहर सहायक हो पाती हैं। फलतः वे अपनी भाषा को हेयदृष्टि से देखने लगते हैं और भूलने लगते हैं। इस प्रकार रोजगार देने वाली भाषा या भाषाएँ भी इनकी बोलियों को हड़प लेती है।

लघुपत्रिकाएँ यहाँ महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है या निभाती हैं चूँकि वे स्थानीय या क्षेत्रीय भाषाओं में प्रकाशित होती हैं और प्रायः आम जन और उनके मुद्दों से जुड़ी होती हैं। क्षेत्र के नये लेखक भी इन पत्रिकाओं में स्थान पाते हैं। इस प्रकार वे अपनी भाषाओं को लघुपत्रिका के माध्यम से जिंदा तो रखते ही हैं, उसके विकास में भी मददगार होते हैं। खुद अपना भी विकास करते हैं। इस प्रकार मुख्य भाषाओं या अन्य वर्चस्ववादी भाषाओं से भी वे कुछ न कुछ ग्रहण कर लेते हैं। ये स्थानीय लघुपत्रिकाएँ काफी हद तक स्थानीय बोली-भाषाओं को जिंदा रखने में मददगार होती हैं। हालाँकि ये सब निजी स्तर के प्रयास होते हैं। सरकार अगर सही नीतियाँ बनाए और लघु-पत्रिकाओं को प्रोत्साहित करे तो कोई भी भाषा न तो मरेगी और न ही लुप्त होगी।

साम्राज्यवादी सोच वर्चस्ववादी होती है जो भाषाओं को न केवल हड़पती है

बल्कि एक-दूसरे का दुश्मन भी बनाती है। सभी भाषाएँ पनपें और भाषायी साम्राज्यवाद टूटे इसके लिए ज़रूरी शर्त है अनुवाद, ताकि सभी भाषाएँ जुड़ सकें और एक-दूसरे को जान सकें और किसी भी भाषा के वर्चस्व के मुकाबिल मिल कर खड़ी हो सकें।

मैं नहीं कह सकती कि अकेला लघुपत्रिका आन्दोलन ही भाषायी साम्राज्यवाद को रोक सकता है पर यह ज़रूर कहा जा सकता है कि ये भाषाओं को मरने से रोक सकता है। कुछ लोग कह सकते हैं कि ये चींटी द्वारा हाथी मारने का प्रयास है। पर ये भी तो सत्य है कि कभी-कभी छोटे कद की शार्क मछलियाँ भी ढेल मछली का जीना मुहाल कर देती हैं। जब लड़ाई अस्तित्व की हो, वजूद की हो तो सामने तो आना ही पड़ता है। मिटकर भी अगर कुछ बचाया जा सके तो कदम बढ़ाने ही पड़ते हैं।

नुकीले पंजों की पकड़ को/ ढीला करने के लिए/ ज़रूरी है पंख खोलना/ तो  
खोलूंगी मैं/ विकल्प उड़ना ही है तो/ उड़ूंगी मैं।/ मेरे होने के इज़हार के  
लिए/ विकल्प/ वजूद का मिटना है/ ते मिटूंगी मैं/ पर चाकुओं को हवा में  
तैरने से/ रोक्कूंगी मैं, रोक्कूंगी मैं।

हर पत्रिका यदि कम से कम किसी एक अपरिगणित भाषा के लिए अनुवाद के कुछ पन्ने दे दे, तो भाषायी बहनापा कायम हो सकता है। वर्चस्ववादी साम्राज्यवादी रूझान भाषाओं में शत्रुता कायम करता है चूँकि वह अपनी भाषा को थोपकर दूसरी भाषा पर हावी होकर उसे हड़प लेना चाहता है, जबकि भाषायी बहनापा एक-दूसरे से कुछ ग्रहण करने की प्रवृत्ति पालता है। वह लोकतांत्रिकता में विश्वास करता है, जिसमें सबको जीने और विकसित होने का अधिकार होता है। लघुपत्रिकाएँ अनुवाद के माध्यम से इस भाषायी बहनापे का वातावरण निर्मित कर सकती हैं उन्हें जोड़ सकती है।



## राष्ट्रीयता का दायरा

रूस के विघटन के बाद उत्तर आधुनिकतावादियों ने कहना शुरू किया कि साम्यवादी इतिहास का अंत हो गया विचार समाप्त हो गया। इस तरह उन्होंने विश्व की दलित, पिछड़ी, कुचली, मेहनतकश जनता के सामने समानता, भाईचारा और आजादी तथा समाजवादी ढाँचे के सपने, जिसमें शोषणरहित, जातिविहीन और वर्गविहीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था की सम्मानजनक एक सुखद कल्पना थी जहाँ युद्ध नहीं, विनाश नहीं, बस विकास की ही आकांक्षा थी, से इन्हें वंचित करने की एक मुहिम चलायी ताकि वे सबके सब पूँजीवादी, साम्राज्यवादी व्यवस्था को स्वीकार लें। आज ठीक यही स्थिति भाजपा सरकार के आने से बन गयी है। वे जोर-शोर से धर्म-निरपेक्षता को अप्रासंगिक सिद्ध करने में जुट गए ताकि सांप्रदायिकता को गौरवान्वित कर सकें। धर्म निरपेक्षता को अप्रासंगिक और निरर्थक सिद्ध करने के पीछे एक ही मकसद है कि लोग यह विश्वास कर लें कि अब वे दिन वापस नहीं लौटेंगे, जब विभिन्न धर्मावलंबी सद्भाव से रहने का सपना देखते थे। अब तो एक बड़े समूह के सामने अल्पसंख्यक समूह को दबकर रहना ही होगा, अपने अधिकारों में कटौती स्वीकारनी ही होगी, नहीं तो उनके भगवा सैनिक अपने सेवक साधू समाज का डंडा लेकर उनकी दादागिरी मानने के लिए इन्हें मजबूर कर देंगे, या फिर इनके मरने के लिए सामान और माहौल दोनों तैयार कर देंगे। आखिर जाएंगे कहाँ वे? रहना तो उनकी शर्तों पर ही होगा। शायद यही एक विकल्प रहने देंगे वे लोग।

इन लोगों द्वारा, एक और सोच अनिवार्य बना दी जा रही है, जिनमें नव-धनाढ्यों, सूडो माडर्न और शार्टकट से अमीर बनने वालों की मध्यवर्गीय जमात भी शामिल है, वह है वैश्वीकरण, उपभोक्तावादी, मंडीवादी, उदारनीति और निजीकरण की सोच। उनका तर्क है कि अब तो उदारीकरण का दौर शुरू हो ही गया है और वैश्वीकरण हकीकत बन ही गया है, इसलिए इसे मान लो। उनके लिए स्वावलंबी होने की सोच पुरानी पड़ गई। वैश्वीकरण का कोई विकल्प नहीं है यानी भाजपा के शब्दकोश में अब स्वदेशी का अर्थ मल्टीनेशनल कंपनियाँ हो गयी हैं। इन हिन्दुत्ववादियों के शास्त्रों में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के दायरे में देश के दलित और पिछड़े तो पहले भी कभी नहीं थे। अब इधर उन्होंने अपनी राजनीति में वैश्वीकरण को पुनः 'वसुधैव'

के सूत्र से जोड़कर देखना-दिखाना शुरू कर दिया है। वे राजनीति और सत्ता के व्यापारी जो ठहरे। सत्ता के नाम पर लाभ कमाना इनका परम-उद्देश्य है देश जाए जहन्नुम में। देश की चिंता इन्हें कदापि नहीं।

तीसरा नारा जो इन्होंने जोर-शोर से उछाला वह है परमाणु-स्वायत्तता की नीति का। अन्य मामलों में इन्हें स्वायत्तता या स्वालंबन की चिंता नहीं है। विश्वकोश से कर्ज लो सूद दो, बहुराष्ट्रीय कंपनियों को छूट देकर देश में लाओ, भारत में पैदा होने वाली सभी चीजों को अमेरिका पेटेंट करा ले, इन्हें चिंता नहीं। बासमती, चावल, नींबू, नमक, बीहन सभी का पेटेंट करवा ले, कोई हर्ज नहीं पर परमाणु में हमें स्वावलंबी होना ज़रूरी है। हम शान्ति के दूत की बजाय 'दादा' कहलाना पसंद करने लगे हैं। हमने तो महाभारत के समय ही परमाणु बम बनाने की महारत हासिल कर ली थी। इसलिए नयी परमाणु नीति आवश्यक है। परमाणु यानी देश पर सतत् लटकती युद्ध की तलवार! सतत् खतरे की बजती घंटी। हमारे लिए वर्चस्व का प्रतीक बन गया है परमाणु। आजादी के समय विभाजन से उत्पन्न हुई कटुता को मिटाने की बजाय सांप्रदायिकता को इन शक्तियों ने हमेशा पाल-पोसकर रखा और सत्ता में आते ही उसे शत्रुता में बदल दिया। हम मानने लगे पाकिस्तान ही हमारा सबसे बड़ा शत्रु है। पड़ोसी देशों से ज्यादा शक्तिशाली बनने की होड़ बुरी नहीं पर दूसरे को सबक सिखाने या दूसरे पर अपनी दादागिरी जमाने की मंशा, दोस्ती, शान्ति और सहअस्तित्व की नहीं, शत्रुता की नींव मजबूत करती है। यह मंशा युद्ध को न्योता देती है। इससे दोनों देश विध्वंस की ओर ही जायेंगे। अब तक पाकिस्तान की राजनीति इसी सोच पर टिकी रही और केवल भारत के साथ युद्ध के उन्माद को जिंदा रखकर ही वह जीवित रहा। अब भारत में भी ऐसे उन्माद को हवा देकर एक अंधराष्ट्रीयता का माहौल बनाया जा रहा है।

राष्ट्रीयता को जनता से नहीं, केवल देश की भौगोलिक सीमाओं से जोड़कर परिभाषित किया जा रहा है। देश की जनता को दो जून खाना मिले या ना मिले, पीने का पानी मिले या न मिले, तन पर कपड़ा हो या न हो, रोज़गार की गारंटी हो या न हो, बस आन-बान और शान के लिए मर-मिटना ज़रूरी है। यह आन बान शान गरीबी रेखा के नीचे रहने वाली कीड़े-मकोड़े की तरह रहती जनता को गरीबी रेखा से ऊपर लाने के लिए नहीं है, यह तो अपने धर्म को दूसरे धर्म से श्रेष्ठ सिद्ध करने में है। उनकी शान अपने देश की दादागिरी बढ़ाने में है चाहे युद्ध ही क्यों न करना पड़े!

युद्ध अथवा युद्ध का नाटक सरकार को सत्ता में कायम रखता है। इसलिए युद्ध करो अरबों रुपये खर्च हो जाएँ तो हो जाएँ, हज़ारों लोग शहीद हो जाएँ तो हो जाएँ, बस उन शहीदों को गौरवान्वित कर उनकी मजारों पर मेले तो लगाओ पर उनके शहीद होने की स्थितियों से बचने के लिए कुछ नहीं करो।

छद्म दोस्ती का माहौल बनाओ। घुसपैठ हो तो चुप्पी साध जाओ। शत्रु की ताकत का बिना अंदाजा लगाए दो दिन में घुसपैठिये भगाने का गजब का ऐलान कर दो और जनता का मन मोह लो। फिर लड़ाई लम्बी खिंचने की घोषणा कर दो। युद्ध का ऐलान करो। सैनिकों को शहीद होने के लिए ललकारो पर अपनी गलतियाँ मत स्वीकारो। घुसपैठ क्यों होने दी गई इस पर बहस न हो, इसलिए राज्यसभा का सत्र बुलाने की ज़रूरत नहीं। कितने किलोमीटर तक घुसपैठिये घुस आए? गुप्तचर एजेंसियाँ क्या करती रहीं? इन सवालों का जवाब पूछने वालों को देश-द्रोही करार कर दो। कितने जवान आपकी गलती से शहीद हो गए, यह पूछना अनैतिक करार कर दो। बस जनून पैदा करो। पहले युद्ध का, फिर चुनाव का, चुनाव के लिए युद्ध थोपो, शहादत थोपो। सरकार की गलतियों के चलते सैनिक मरें पर जीत का सेहरा सरकार के सर पर बांधो। कुंडली मारकर सत्ता से चिपके रहने के लिए इस प्रकार के फार्मूले प्रयोग किए जाते हैं और यही अटल सरकार कर रही है जो न जनहित में है, न देश हित में।

अब परमाणु नीति की घोषणा कर देश की जनता की अंध-राष्ट्रीयता को जगाकर, एक और चुनावी स्टंट खड़ा किया जा रहा है। इस नीति पर तो तभी बहस होनी चाहिए थी जब सरकार ने राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् बनाई थी। भाजपा ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र में इसका क्रम यही रखा था पहले राष्ट्रीय-सुरक्षा परिषद् का गठन, फिर सामरिक सुरक्षा का पुनर्निरीक्षण, तब परमाणु निरस्त्रीकरण के विकल्प पर उस परिषद् द्वारा विचार। दरअसल चुनाव को ध्यान में रख कर, बिना सामाजिक सुरक्षा का पुनर्निरीक्षण किए, इस नीति को ऐसे समय में बहस का मुद्दा बनाया जा रहा है, जब यह सरकार काम चलाऊ होने के नाते ऐसा करने को सक्षम नहीं है। दूसरे खुद उन्होंने उस शर्त को पूरा नहीं किया यानी सामाजिक सुरक्षा पुनर्निरीक्षण। तीसरे चुनाव के समय इस मुद्दे पर बहस करवाना सिर्फ चुनावी लाभ के लिए ही है। चुनाव के मौके पर जनता में जंग का जुनून भरना, चुनाव-संहिता के विरुद्ध है। जब वे इस नीति को पारित ही नहीं कर सकते, तो इस पर अभी बहस क्यों? क्या यह जनता में अंध-राष्ट्रीयता का जज्बा जगाकर युद्ध या परमाणु के नाम पर उसे अपने पक्ष में करने की नयी चाल नहीं है?

युद्ध किसी देश में विकास नहीं लाता, वह विध्वंस लाता है। भारत को विकास की ज़रूरत है। ऐसे में राष्ट्रीयता का इस्तेमाल जनता के विकास से जोड़ने की बजाय, युद्ध के जुनून से जोड़ा जा रहा है। ठीक है यदि हम पर युद्ध थोपा जाए तो ज़रूर उसका मुकाबला किया जाएगा पर युद्ध की स्थितियाँ जान-बूझकर पैदा करना, कहाँ की अक्लमंदी है?

‘हम परमाणु सम्पन्न हैं’ की धमकी देना कहाँ की बुद्धिमता है? देश की परमाणु नीति तो पहले से ही मौजूद है। कोई एक दिन में तो परमाणु सम्पन्नता

का विकास हुआ नहीं। उसे ढिंढोरा पीटकर दुश्मन को आगाह करना, कहाँ की रणनीति है? अपने पत्ते खोलना खेल का चातुर्य नहीं उन्हें समय पर जब खेल शुरू हो जाए तब ही खोला जाता है, पहले नहीं दिखाया जाता। हम पत्ते खोलकर या तो दुश्मन को आगाह करते हैं कि वह अपनी चाल सुधारे अन्यथा उसे डराने के लिए ऐसी चाल चलते हैं, जो उल्टी भी पड़ सकती है। वह दुश्मनी में इजाफा भी कर सकती है और उसे सावधान भी कर सकती है।

परमाणु नीति में निरस्त्रीकरण के विकल्प की चर्चा चला कर, अब हम अपने देश की पूरी विदेश-नीति को ही बदल रहे हैं। कारगिल में ग़लत नीतियों के कारण सरकार ने अति संवेदनशील कश्मीर में अमेरिका का हस्तक्षेप होने दिया। अब चुनाव के समय परमाणु निरस्त्रीकरण के विकल्प की बहस चला कर युद्ध-नीति की घोषणा करना, क्या भारत को अलग-थलग करना नहीं होगा। ऐसा माना जा रहा है कि हमारा नेतृत्व अमरीका का इतना पिट्टू हो गया कि परमाणु परीक्षणों की सूचना भी देश को उसी कथित दरोगाई-देश के जरिये मिली। इससे पूर्व इसकी चर्चा प्रमुख सियासी राजनेताओं तथा मंत्री सहयोगियों से भी नहीं की गई। 12 मई को प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी ने अमेरिका के राष्ट्रपति बिल क्लिंटन को एक पत्र लिखा जो देश के सभी प्रमुख पत्रों में प्रकाशित हो गया। तब देश ने जाना कि 'बुद्ध मुस्कुराए' यानी परमाणु परीक्षण सम्पन्न हो गया। उस पत्र में परमाणु परीक्षण करने का कारण बताते हुए प्रधानमंत्री ने पड़ोसी देश चीन के परमाणु संपन्न होने की तरफ संकेत किया और उससे सम्भावित खतरे को चिह्नित किया लेकिन वे यह भूल गए कि अमरीका पहले से ही हिन्द महासागर में परमाणु जखीरों का अड्डा बनाए हुए है।

क्या भारत या पाकिस्तान दोनों पड़ोसी देश युद्ध की स्थिति बर्दाश्त करने के काबिल हैं? पाकिस्तान में ज्यादा समय सेना का वर्चस्व ही रहा है। वहाँ जनतंत्र पूरी तरह कभी काबिज नहीं रहा। इसके विपरीत भारत में तो हम जनतंत्र की डींग हाँक सकते हैं कि 'हमारी सेना भी हमारे कब्जे में है, जो देश की सरकार को समय रहते सूचनाएँ देती रही है' हम ही समय पर कदम न उठाएँ तो कौन दोषी कहलाएगा? हम खुद ही न। पर इस हकीकत पर भी बात करने को भी तैयार नहीं है अटल की यह कामचलाऊ सरकार।

देश पर कारगिल थोपा गया, जिससे बचा भी जा सकता था। आश्चर्य तो यह है कि देश के अधिकांश साहित्यकारों ने भी कारगिल के मुद्दे को राष्ट्रीयता से जोड़कर उसका सतही आकलन किया। कुछ ने राष्ट्रीयता की अति कर दी तो कुछ ने उस पर चुप्पी ही साध ली। जब वे बोले तो काफी देर हो चुकी थी। जगह-जगह सांप्रदायिक शक्तियों ने राष्ट्रीयता को देश की सीमा का मुद्दा बनाकर नए-नए कलाकारों, साहित्यकारों को मंच पर उतारकर, एक छद्म अंध-राष्ट्रीयता का वातावरण तैयार करना शुरू कर दिया था। मीडिया तंत्र भी पूरी तरह उनके ही साथ

रहा। यह सही है कि उस अल्प-संघर्ष के समय, जब अपने ही देश की सीमा के भीतर हमें बाहरी घुसपैठियों और सिविल ड्रेस पहने हुए पाकिस्तान की सेना से लड़ना पड़ रहा था। ऐसी स्थिति में सेना का मनोबल बढ़ाने के लिए देश की एकजुटता और जनता का मनोबल दोनों ही कायम रखना ज़रूरी था। उस समय विपक्ष ने अपनी सार्थक और सामाजिक भूमिका निभायी, वहीं जनता ने भी शहीदों के लिए मुक्त-हस्त धन देकर महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन दिनों रची गई कुछ कविताओं या लिखे गए आलेखों पर ध्यान दिया जाए, तो उनमें प्रायः युद्ध उन्माद ही राष्ट्रीयता का पर्याय नज़र आता है। शहादत को तो गौरवान्वित किया पर शहादत की मजबूरी पर सवालिया निशान नहीं उठाए।

कितना हास्यापद लगता है जब सीमा-सुरक्षा के लिए बंकरों में डटे हमारे सैनिकों को हमारे सेना-अध्यक्षों की चेतावनी के बावजूद भी सरकार के निर्णय के कारण सीमा से वापस बुला लिया गया और पाकिस्तानी सेना और घुसपैठियों की घुसपैठ की जानकारी होने के बावजूद भी, चुप्पी साध ली गई। अपनी ऊँची पहाड़ियों पर उनका कब्जा होने दिया गया। वे कई किलोमीटर तक देश में अंदर घुस आए। ये घुसपैठ एक दिन में तो नहीं हुई थी। जब हम लाहौर में पाकिस्तान की हुकूमत से गले मिल रहे थे और अपनी कूटनीति और विदेश-नीति पर फूले नहीं समा रहे थे, घुसपैठ उससे भी पहले से शुरू हुई थी। इसके बावजूद भी हम चुप थे कि कहीं हमारी गवॉक्तियों का पर्दाफाश न हो जाए। हम तो हर दिशा में नए रिकार्ड बनाने की धुन में पिछले अनुभवों को नज़रअंदाज करने पर तुले थे। ध्यान देने की बात है कि 6 मई, 1999 को पाकिस्तान पोषित घुसपैठियों द्वारा हमारे फौजी मारे जाते हैं। हम हैं कि अपनी राजनीति कि गोटी बिठाने में फंसे रहते हैं और चुनाव को सामने देख देश की सीमाओं से खिलवाड़ कर बैठते हैं। एकाएक बीस दिन बाद, यानी 26 मई को कार्रवाई करते हुए कह देते हैं कि घुसपैठियों को हम दो दिनों में ही खदेड़ देंगे। दुश्मन का सही आकलन किए बिना ही जनता को प्रभावित करने का मन बनाकर, सरकार एक (चुनावी) बयान जारी कर देती है।

अब जरा उस समय का एक परिदृश्य देखिए। हमारा हवाई-जहाज हमारी ही सीमा में पाकिस्तानी सेना द्वारा मार कर गिरा दिया जाता है। हर चोटी पर घुसपैठिया, पाकिस्तान का सैनिक या भाड़े का हमलावर हमारे ही हथियारों से लैस, हमारे ही बनाए बंकरों में बैठकर, हमारे ऊपर ही नज़र रख रहा है और हमला करने को तैयार है। हमारे सैनिक अपना बचाव करते और दुश्मन पर निशाना साधते हुए, जानलेवा ठंड में आक्सीजन की भी कमी के बावजूद उन खड़ी ऊँचाइयों पर चढ़ रहे थे और वे चोटियों पर खड़ी घुसपैठियों की शक्ल में निश्चित मौत को देखते हुए भी आगे बढ़ रहे थे। अपनी सीमा रक्षा के लिए। वे एक के बाद एक मारे जा रहे थे। कितनी कठिन परिस्थितियों में हो रहा था यह मुकाबला। मौत निश्चित थी लेकिन मौत को

चुनौती देकर भी वे बढ़ते रहे। ऐसे मौके पर साहित्यकारों को क्या कहें मेरी नज़र से अभी तक कोई ऐसी कविता नहीं गुज़री, जिसने ये सवाल उठाया हो कि किनकी ग़लतियों से हमारे बहादुर सैनिकों को दो-दो हाथ करना पड़ा? यह सचमुच में हमारे सैनिकों की बहादुरी थी, जो विपरीत स्थितियों में लड़े और अपने घर में घुस आए हमलावर को बाहर किया।

यह निश्चय ही हमारे हुक्मरानों की केवल अक्षम्य ग़लती ही नहीं थी बल्कि चुनावी फायदे के लिए एडवेंचर की सीमा तक जाकर सीमाओं से खिलवाड़ करने की सी हरकत थी, जिसे देशद्रोह भी कहा जा सकता है। ऊपर से तुरा यह कि हम घूम-घूम कर कहते फिर रहे हैं कि हम जीत गए। सवाल है कि हमने क्या जीता? हमने अपनी ही सीमा से घुसपैठियों को तो बाहर निकाला। हम तो अपनी ही सीमा के अंदर शहीद हुए। तब हमने क्या जीता? हम शत्रु की सीमा में गए ही नहीं अपनी ही जमीन को हासिल करने के लिए मरते रहे। एक इंच ज़मीन हासिल नहीं कर पाए शत्रु से। तब हम क्या जीते? हाँ, लालबहादुर शास्त्री के समय हमने कुछ जीता था। जिसे हमने लौटाने की ग़लती भी की थी। लेकिन इस बार हमने क्या जीता? हमने अपनी ग़लतियों के कारण सैनिकों को गंवाया। यदि यह जीत भी है तो सिर्फ़ सेना की जीत है, सरकार की जीत नहीं। क्या साहित्यकारों ने इन सारे प्रश्नों को जनता के सामने परोसा। प्रस्तुत किया, ताकि भाड़े के कलाकारों तथा कलमकारों द्वारा सांप्रदायिक शक्तियाँ जनता को ग़लत संदेश पहुँचाने में कामयाब न हो सकें और कारगिल का मुद्दा छद्म और अंध-राष्ट्रीयता का मुद्दा बनकर चुनावी स्टंट न बने। सरकारी ग़लती जनता के सामने आ सके।

राष्ट्रीयता केवल देश की सीमाएँ और भूगोल ही नहीं होती बल्कि देश की जनता भी, उसकी अपेक्षाएँ और आकांक्षाएँ उसमें शामिल होती हैं। उसमें जनता में गरीबी-रेखा से नीचे की जनता भी शामिल होती है, केवल दस प्रतिशत मध्यम-वर्ग या अमीर-वर्ग नहीं होता। उसमें मेधा पाटकर के साथ जल-समाधि लेने को तैयार विस्थापितों की जमात, जहानाबाद में ज़मींदारों की सेनाओं द्वारा मारी जा रही खेतिहर मजदूर व दलितों की जमात भी शामिल है जो अपने पक्ष में राष्ट्रीयता के परिभाषित होने की प्रतीक्षा में हैं। वे भी होते हैं उसमें जो अभी तक देश की (राजनीतिक) आजादी का अर्थ भी नहीं जान पाए चूँकि सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक गुलामी ने उन्हें मानसिक तौर पर गुलाम रहने को मजबूर कर रखा है। वे गुलामी को ही अपने कर्मों का फल या प्रायश्चित मानकर ज़िंदगी जीते हैं। उसमें वे भी होते हैं, जिन्होंने आज तक रेल नहीं देखी और वे भी जिन्हें हिमालय की टाइगर हिल की खबर नहीं है। वे नहीं जानते कि भारत किस बला का नाम है। उनका देश उनका अपना गाँव है और उससे अलग सभी गाँव उनके लिए परदेस हैं।

इन स्थितियों में परिवर्तन की क्रांतिकारी मुहिम चलाने वाले या सीधे शब्दों

में कहें तो भगत सिंह जैसे क्रांति की मुहिम चलाने वाले भी तो इसी राष्ट्रीयता के दायरे में आते हैं। *जातीय सेनाएँ बनाकर, पेशेवर अपराधियों को साथ लेकर, न्यूनतम मजदूरी और अपने पट्टे की जमीनें मांगने वाले दलितों की हत्याएँ करने वाले जमींदारों के गिरोह, जो बेलची से लेकर जहानाबाद तक नरसंहारों का सिलसिला चलाते हैं, क्या वे राष्ट्रीयता के दायरे में रखे जा सकते हैं? क्या हर्षद से हवाला तक के मुक्त हुए अभियुक्त राष्ट्रीयता की परिभाषा में आएंगे?* कौन राष्ट्रीयता के दायरे में है या कौन नहीं, यह भी तय होना जरूरी है। कैसी राष्ट्रीयता चाहिए यह निर्णय तो करना ही होगा। वैसे तो सत्ता से द्रोह करने वाले व्यवस्था को बदलने वाले हर सिपाही को सफल होने पर स्वतंत्रता सेनानी और असफल होने पर देशद्रोही अथवा गद्दार की संज्ञा दी जाती रही है। 1857 में सत्ता की खिलाफत करने वाली जिस जनता को तत्कालीन अंग्रेजी सत्ता ने राष्ट्रीयता की परिभाषा में गद्दार करार किया था, उसी जनता को आजादी के बाद देश का सेनानी कहा जाने लगा है। बस संदर्भ बदल गए शासक बदल गए और बदल गया राष्ट्रीयता का पैमाना।

तब क्या संदर्भित समय की परिस्थितियाँ या देश के शासक निर्धारित करते हैं राष्ट्रीयता का दायरा? क्या जनता भी उसकी परिभाषा निर्धारित कर सकती है? राष्ट्रीयता क्या हो, उसकी अवधारणा क्या हो, उसकी सीमा क्या हो, कौन हो उसके दायरे में या कौन नहीं ऐसे कई सवाल हैं, जो राष्ट्रीयता क्या है के साथ-साथ उभरते हैं।

कुछ लोग प्रचलित मुख्यधारा या प्रवृत्ति व अवधारणा को ही राष्ट्रीयता मानते हैं। यदि किसी समय में प्रचलित विचारधारा, प्रवृत्ति या अवधारणा को ही राष्ट्रीयता माना जाए तो आजकल भारत की मुख्यधारा भ्रष्टाचार है! यही है हर सूं! यही शासक और शासित यानी सत्ता और जनता दोनों में व्याप्त है। इसने आवाम के मूल्य तक बदल डाले हैं। फिर क्या भ्रष्टाचार को भी राष्ट्रीयता मान लिया जाए? राष्ट्रीयता की ऊँची बोली लगाने वाले हिलाचली पंडित सुखराम और तमिलियन ब्राह्मणी जयललिता से समझौता किया जाता है सरकार बनाने के लिए, यथास्थितिवाद और भ्रष्टाचार कायम रखने के लिए!

इस यथास्थिति को उलटने के लिए जनता का एक हिस्सा जब आगे आता है, तो उसे हिंसक या विद्रोही कहकर छद्म राष्ट्रीयता के नाम पर कुचल दिया जाता है। देश की जनता का एक बड़ा तबका इन्हें भी राष्ट्रवादी मानता है चूँकि ये क्रांतिकारी तबका एक दस्ते के रूप में मरने के लिए तैयार रहता है अपने बराबरी, भाईचारे और आजादी के सपने को हाँसिल करने के लिए।

पर कई लोग बदलाव की परिभाषा भी अपने स्वार्थहित में करने लगते हैं, मसलन हिन्दुत्ववादी लोग मस्जिदों को तोड़कर मन्दिर बनाने का उन्माद भरने को भी बदलाव मानते हैं। वे सत्ता में आने और यथास्थितिवाद को कायम रखने के लिए

वर्तमान ऊंच-नीच, भेद-भाव भरी सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए धार्मिक नारे देते हैं और हिन्दुत्व को ही राष्ट्रियता कहते हैं। इसलिए बदलाव की परिभाषा भी जनता को करनी होगी कि वह कैसा बदलाव चाहती है? केवल सरकार की रक्षा उसका उलट-पुलट के बदलाव नहीं होता। वह सरकारों का बदलना होता है। कुछ लोग सरकारों को भी राष्ट्रियता से जोड़ने लगते हैं, आपात्काल में तो 'इन्दिरा इज़ इंडिया' का नारा देकर इन्दिरा गाँधी को ही देश का पर्याय बना दिया गया था।

यथास्थिति को खत्म करना ही बदलाव नहीं बदलाव के लिए राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक बराबरी और सभी की हिस्सेदारी की गारंटी भी ज़रूरी होती है। राष्ट्रियता की जो हिन्दुत्ववादी या युद्धवादी परिभाषा आज की जा रही है, क्या उसमें कहीं भी बदलाव या राष्ट्रियता का पुट है? उत्तर मिलेगा नहीं! उस परिभाषा को नकार के लिए जनता को आगे आना होगा सेना को नहीं! जब सेनाएं आगे आती हैं तो वे जनता के रूप में ही आती हैं, वे शासकों का हथियार बनकर नहीं आती विद्रोह करके आती हैं और बदलाव लाती हैं। बदलाव लाने हेतु जनता और उसके नेतृत्व को मरने के लिए तैयार रहना होगा। जैसे मरने को तो आज भी लोग मर ही रहे हैं। पर क्या केवल मरने के लिए कटिबद्ध जमात या समूह ही क्रांति ला सकता है। तब क्या कारगिल की शहादत क्रांति कहलाएगी? उत्तर है नहीं! यह शहादत भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। हालाँकि सैनिकों की शहादत देश की सीमाओं के प्रति वफादारी या विस्तार के लिए अथवा देश की सुरक्षा बरकरार रखने के लिए होती है पर यह शहादत लाती और न ही गरीबी-रेखा से नीचे रहने वालों को दो जून खाना देकर, गरीबी-रेखा से ऊपर नहीं लाती और न ही सकती है।

तब हमें कैसी राष्ट्रियता चाहिए? क्या ऐसी राष्ट्रियता जो सबको खाना, कपड़ा, मकान दे भाषा, बोली, आवाज़ दे या ऐसी राष्ट्रियता चाहिए जो कुछ को संपत्ति दे और कुछ को बर्बादी दे। राष्ट्रियता उस व्यवस्था को भी परिभाषित करती है, जिसमें हम रहना चाहते हैं। वह व्यवस्था जनता की हो या मुट्ठी भर लोगों की, यह तय करने के लिए जनता को आगे आना होता है। उन्हें शरीक होना होता है। सरकारों की रक्षा करने वाली सेना या पुलिस की शहादत क्रांति नहीं लाया करती। वह भूगोल बदल सकती है, पर जनता का विकास उसके हाथ में नहीं होता। उन्हें तो विकास की इच्छुक जनता को कुचलने के लिए सरकारें इस्तेमाल करती है। इसलिए छद्म राष्ट्रवाद, भूगोल या सीमा का राष्ट्रवाद राज्यवाद होता है जो सत्तापक्ष का मददगार होता है, जो जनता का ध्यान असली मुद्दों से हटाता है बंटता है, कभी हिन्दुत्ववाद के रूप में तो कभी मंदिरवाद के रूप में कभी छद्म स्वदेशी के रूप में तो कभी कारगिल के रूप में! इसलिए राष्ट्रियता के दायरे पर समय रहते विचार करना होगा।



## चोर-चोर मौसेरे भाई

इक्कीसवीं सदी की शुरुआत ही ऐसे माहौल में हुई जब भारत में प्रतिगामी शक्तियाँ उभार पर आ गई थीं। इस सदी में अपने को स्थापित करने के लिए, ये शक्तियाँ देश भर में जोड़-तोड़ की जी-तोड़ कोशिश में लग गईं। इन शक्तियों के हिन्दू एजेंडे का रोडरोलर अपने लिए सपाट जमीन बनाने हेतु सब कुछ कुचलते हुए, कामयाबी से आगे बढ़ता गया और आज भी बढ़ रहा है। पहले तो इन शक्तियों का शीर्षस्थ नेतृत्व मुखौटे के पीछे से बतियाता था पर अब उसने मुखौटा भी उतार दिया है। देश के प्रधानमंत्री ने अमेरिका की धरती पर खुद को खुलेआम 'स्वयंसेवक' घोषित कर दिया। परमाणु बम के औचित्य को साबित करने लगे हैं ताकि वे हिन्दुत्व की स्थापना के सपने को पूरा करने का वायदा पूरा कर सकें। उसे पूरा करा पाने के लिए वे तीन चौथाई बहुमत पाने की शर्त अमरिका से भारतीय वोटों के समक्ष अमेरिका से ही रखते हैं।

सर्वविदित है ये वही स्वयंसेवक हैं जिन्होंने बाबरी मस्जिद तोड़ी थी। ये वही लोग हैं जिन्होंने आस्ट्रेलियाई मिशनरी ग्राहम स्ट्रेन्स और उसके तीन बच्चों को जिंदा जलाया था। ये वही हैं, जिन्होंने गुजरात में ईसाई अल्पसंख्यकों के धर्मस्थलों को फूँक और तोड़ दिया था। उत्तर प्रदेश के एक चर्च की ननों से बलात्कार करने वाले तथा बिहार के वैशाली में सरेआम एक नन को नंगा करके घुमाने और उसे अपना पेशाब पिलाने वाले भी वही लोग हैं।

अपने शौर्य की कवितामयी परिभाषा करने वाले प्रधानमंत्री न जाने उस समय क्या सोच और कर रहे थे, जब उन्होंने एक कुख्यात आतंकवादी को छोड़ दिया था बल्कि इनके ही विदेशमंत्री ने अपने साथ विमान में बिठाकर एक भारतीय अपहृत विमान को मुक्त कराने के बदले कंधार ले गए थे। क्या यह आतंकवादियों के आगे झुकना नहीं है?

संभवतः ये ऐसा कह सकते हैं कि उस आतंकवादी के पीछे विदेशी ताकत थी, तब भारतीय चंदन तस्कर वीरप्पन के पीछे कौन है? उसके सामने इनके ही एक सहयोगी की तामिल सरकार घुटने टेकने पर आमामादा है? कर्नाटक की सरकार को तो खैर कांग्रेस की सरकार बताकर ये पल्ला झाड़ भी सकते हैं कि सरकार ब्लैकमेल हो रही है या उसे ब्लैकमेल किया जा रहा है लेकिन तमिलनाडु की सरकार का तो

भयादोहन नहीं हो रहा, बल्कि उसी के लिए तो सब कुछ हो रहा है। उसकी तो पौ बारह है। इस तरह तो वे वीरप्पन को गौरवान्वित कर रहे हैं। क्या इसे ही सरकार चलाना कहा जा सकता है?

आजकल अखबारों में एक शब्द खूब गूँज रहा है कि सरकार फूंक-फूंक कर कदम बढ़ा रही है यानी नम्रता बरत रही है। क्या यह नम्रता है? ये तो पूर्ण समर्पण है। समर्पण को नम्रता कहना, क्या सही आकलन है? ऐसे तो पिछले कई बरसों से यह होता आ रहा है। जनता दल की सरकार के समय 'रूबिया अपहरण कांड' में कुछ आतंकवादी छोड़े गए, वहाँ कांग्रेस सरकार के समय कश्मीर के हजरतबल में खूंखार आतंकवादियों को उनकी शर्तों पर सुरक्षित निकल जाने का मौका दिया गया।

इसी तरीके एक नहीं बल्कि अनेक घटनाएं घटीं लेकिन वे सरकारें न तो अपने शौर्य की डींग हांकती थीं और न ही हिन्दुत्व के नाम पर देश और विदेश में घोषणाएं किया करती थीं। वर्तमान भाजपा बाहुल्य राजग मोर्चा सरकार का नेतृत्व अनुशासन, हिन्दुत्व और धर्म की रक्षा के नाम विश्व में शांति प्रयासों को धत्ता बताकर देश को परमाणु बम से भी लैस कर रहा है। यही सरकार कारगिल में घुसपैठियों को घुसपैठ का भी मौका देती रही और पाकिस्तान प्रधानमंत्री नवाज़ शरीफ से दोस्ती का नाटक भी करती रही। इसी सरकार ने अपहृत विमान के लिए बंधकों को छोड़ दिया और अब यही सरकार वीरप्पन के आगे विवश है। क्या इन तीनों घटनाओं को क्रमशः सरकार की उदारता, नम्रता या संवेदनशीलता कहा जा सकता है? क्या ये घटनाएं सरकार की अक्षमता, लापरवाही अथवा कायरतापूर्ण कृत्य नहीं कही जाएगी?

दरअसल, सत्ता में रहने का मोह ही इनकी इस विवशता का मुख्य कारण है। इसके पीछे कोई सिद्धांत या तर्क नहीं है। धर्म या राम मंदिर ये सब वोट के लिए नारे हैं। अब तो इन्होंने बंगारू लक्ष्मण को दलितों को मोहने के लिए अपनी सत्ता की फसल के रक्षार्थ एक कनकौआ बनाकर खड़ा कर दिया है। आज विज्ञान का युग है, इसलिए इनका कनकौआ बोलता भी है पर वह बोली उसकी अपनी नहीं है। वह भरा हुआ टेपरिकार्डर है। वह दलित और मुसलमानों दोनों का एक साथ आह्वान करता रहता है। ठीक दूसरे ही दिन उनके सहयोगी इसके व्यक्तव्य का खंडन भी करते हैं। प्रधानमंत्री तो साधुओं, शंकराचार्यों, मठाधीशों, पुजारियों और पंडितों के लिए अमेरिका में बुलाई गई सभा में हिन्दुत्व का बखान कर आए हैं। उन्होंने हिन्दुत्व छोड़कर अन्य किसी धर्म को बर्दाश्त करने की सहिष्णुता तक नहीं दिखाई। दूसरी तरफ अमरिका में ही आयोजित संयुक्त राष्ट्र की सभा में वे अपने भाषण में पाकिस्तान के आतंकवादियों की चर्चा करते हुए, उनके मध्ययुगी अंधविश्वासों और बर्बरता की तरफ इशारा करते हैं। विडम्बना यह है कि इसी हिन्दुत्व के नारे के तहत भारत में अल्पसंख्यकों पर हो रहे बर्बर हमलों, महिलाओं पर हो रहे बलात्कारों की उन्हें कोई चिंता नहीं। सबसे बड़ी आश्चर्यजनक बात तो

यह है कि वे वैदिकशास्त्रों की ही परंपरा को लागू करने के लिए मनु की वर्णवादी संस्कृति के तहत, अपने ही हिन्दू धर्म के एक बड़े हिस्से तथाकथित अछूत, आदिवासी और पिछड़ी जातियों को पशुवत् ज़िंदगी जीने को मजबूर किए जाने वाली व्यवस्था को जारी रखने में मददगार होते हैं। स्वयं तो अपनी कथनी में परंपरा और अंधविश्वास तोड़ने की बात करते हैं पर करनी में उसे लागू रखने के ही कार्यक्रम चलाते हैं।

एक प्रचलित उक्ति है 'चोर-चोर मौसेरे भाई'। अमेरिका, मुस्लिम विरोधी देश माना जाता है और मुस्लिम आतंकवादियों से परेशान है। हम मुस्लिम या मुस्लिम आतंकवाद की पक्षधरता की बात नहीं करते। कोई भी देश, कौम, व्यक्ति या धर्म आतंकवादी रास्ता अपनाएं तो उसे गलत ही माना जाएगा। लेकिन जो खुद वही करे, वह दूसरे को गलत कहने का अधिकारी तब तक नहीं हो सकता, जब तक वह अपना रास्ता सुधार न ले। लगता है अमेरिका का मुस्लिम विरोध देखकर हमारे प्रधानमंत्री जी का हौसला इतना बुलंद हुआ कि वे अमेरिका की धरती पर अपना मुखौटा उतारकर खुद को 'स्वयंसेवक' घोषित कर बैठे और हिन्दुत्ववादियों का सपना पूरा करने के लिए भारतीय मतदाताओं को चुनौती दे दी।

हिन्दुत्ववाद हो या इस्लाम का जेहाद, दोनों में कोई खास अंतर नहीं है। पहला दूसरे को मलेच्छ कहता है तो दूसरा पहले को काफिर। दोनों अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। दोनों ही एक-दूसरे से घृणा करते हैं। दोनों स्वयंभू सुपरमैन हैं। इनमें प्रेम कहीं नहीं है जबकि प्रेम मनुष्यता की पहली शर्त है। इसलिए ये मनुष्य भी नहीं हैं। इन्हें आदमखोर कहा जा सकता है भेड़िए की तरह ये जंगल में रह सकते हैं इंसानों की दुनिया में नहीं। इसलिए भारतीय जनता को इस प्रवृत्ति के खिलाफ मुस्तेदी से खड़ा होना होगा।

## कारगिल घटने ही क्यों दिया गया?

अंक 45 तेलुगू दलित साहित्य पर केंद्रित था। तब से अब तक देश में बहुत कुछ होनी-अनहोनी घट गयी तथा बहुत कुछ जुड़ा भी। वाजपेयी सरकार का गिरना विपक्ष द्वारा सरकार का न बना पाना तीसरे मोर्चे का जो कुछ भी बचा था, उसका भर-भराकर गिरना कांग्रेस में टूट सोनिया का इस्तीफा विदेशी प्रधानमंत्री का सवाल मुलायम व लालू का कांग्रेस के सवाल पर दो मत होना द्रविड़ मुनेत्र कषगम का भाजपा से जुड़ाव यानी तेज़ी से घटनाक्रम बदलते व बनते चले गए। फिर चुनाव की तारीखों की घोषणा और अंत में कारगिल के बहाने युद्ध की-सी स्थिति। कारगिल से पहले तेज़ी से बदलते घटनाक्रमों पर लिखना चाहती थी लेकिन समय काफी आगे निकल आया है और अब कारगिल पर स्थिर हो गया है। संभवतः सारी सोच का केंद्र वही रह गया है।

वैसे तो सवाल उठता है कि कारगिल घटने ही क्यों दिया गया? 6 मई को पहली बार खबर मिली कि वहाँ हमारे एक जवान को घुसपैठियों ने मार दिया है। फिर 8 मई को तीन जवान मारे गए। 10 मई तक पूरी जानकारी मिल गई थी कि घुसपैठिए भारी संख्या में नियंत्रण-रेखा पार कर हमले करते चले आ रहे हैं। 26 मई को पहली बार उन्हें भगाने के लिए सरकार ने कार्रवाई शुरू करवायी। इस अवधि में सरकार क्या करती रही? यह जवाबी कार्रवाई 8 या 10 मई को ही क्यों शुरू नहीं की गई थी? 26 मई का इंतज़ार क्यों किया गया? हालांकि इतनी बड़ी घुसपैठ एक या सोलह दिन में तो संभव नहीं थी। यह पहले से ही चल रही थी जिसे हमारी गुप्तचर एजेंसियाँ नहीं बता पाईं लेकिन 6 मई को एक जवान मारा गया तब तो जानकारी हो गई थी, फिर इतनी देर क्यों लगी 'ऑपरेशन विजय' की शुरुआत में? क्या घुसपैठियों को पहले इसलिए आने दिया गया था कि वे आ जाएं और हमारी सेना उन्हें खदेड़े और चुनाव में भाजपा व उसके सहयोगी गुटों को इसका लाभ मिल जाए? यदि यह सच है तो क्या इसे देश के साथ खतरनाक खेल नहीं समझा जाएगा? पहले कांग्रेस भी ऐसी तिकड़म करती थी कि दंगा करवा दो, फिर मुसलमानों को बचाओ और उनमें राहत बांटो, तो मुस्लिम आवाम पूरी तरह कांग्रेस के कब्जे में रहेगा।

कभी पंडित नेहरू ने चीन की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया था। पूरा देश

‘हिन्दी-चीनी भाई-भाई’ के नारे लगा रहा था और उस समय चीन सीमा पर अपनी सेना इकट्ठी कर रहा था। दोस्ती का तोहफा उसने आक्रमण से दिया। तब विपक्ष में बैठे इन्हीं श्री अटल बिहारी एंड कंपनी ने सरकार की खूब खिंचाई की थी। आज वही लोग चुप क्यों हैं? जबकि सत्ता में वही अटल एंड कंपनी है। कुछ दिन पहले हमने चीन को नंबर एक शत्रु कहा। गुप्तचर एजेंसियां व सेनाओं समेत सभी की निगाहें चीन की ओर लगी रहीं। यहाँ हम (प्रधानमंत्री अटल) लाहौर की बस यात्रा करते हुए सुंदर महिला के शादी के प्रस्ताव पर गौर करते रहे, इधर हमारी सुनहरी कल्पनाओं के पंख मुगालते के आसमान में उड़ान पर ही थे कि उधर पाकिस्तान पूर्व-नियोजित योजनाओं पर अमल करते हुए घुसपैठिए भेजने में मशगूल रहा। किसी और मुद्दे पर पंडित नेहरू तथा पंडित अटल में समानता हो-न-हो पर राष्ट्र सीमा सुरक्षा के इस मामले में दोनों एक जैसे ठहरे। वैसे भी कभी अटल को नेहरू के रूप में भावी प्रधानमंत्री का व्यक्तित्व दिखा था।

कारगिल के इर्द-गिर्द चुनावी लाभ उठाने की शंका किसी-न-किसी मोड़ पर बलवती होना अत्यंत स्वाभाविक बात है। उसके ठोस कारण भी मौजूद हैं लेकिन प्रश्न देश तथा उसकी सीमा का है, इसलिए पूरा विपक्ष, पूरा देश अभी सरकार के साथ खड़ा है। अब तो इस लड़ाई को लड़ना ही नहीं बल्कि जीतना भी है। इसलिए सख्त रूप तो अपना ही पड़ेगा। अमेरिका समेत जी-8 में भारत के पक्ष में आवाज़ उठाई है लेकिन इससे यह नहीं मान लेना होगा कि अमेरिका या शेष आठ देशों का गठबंधन हमारे साथ है। अमेरिका अफगानिस्तान, तालिबान और लादेन के चलते परेशान है। वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की सहायता भी कर रहा है। अमरीका तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्र चाहेंगे कि भारत में ऐसी सरकार रहे, जो पाश्चात्य उदारवादी नीतियों तथा खुले बाजारवाद की हिमायती हो। वह पेटेंट कानून को माने बहुराष्ट्रीय कंपनियों का समर्थन करे और अमेरिका से हथियार खरीदे यही सब काम भाजपा करना चाहती है। पाकिस्तान में सही मायने में वैसे तो सरकार है ही नहीं, जो है भी, उस पर सेना ही हावी है। पाकिस्तान तो पहले से ही आर्थिक मामलों पर अमेरिका पर निर्भर है। उसे हथियारों का बड़ा हिस्सा वहीं से मिलता है। भारत ने अभी तक तो सी.टी.वी.टी. पर हस्ताक्षर नहीं किए। यही कारण रहे कि अमेरिका और जी-8 के देशों को भरोसा हो गया कि उनकी बात भाजपा ज्यादा मानेगी। भारत का विशाल बाजार भी उसके सामने है, इसलिए इस बार अमरीका के भारत के पक्ष में बोलने पर चौंकने की ज़रूरत नहीं। यह उसकी रणनीति का एक हिस्सा है, जिसमें उसका अपना एक स्वार्थ निहित है। हमें किसी मुगालते में नहीं रहना चाहिए कि वह हमारा कोई बड़ा हमदर्द या शुभेच्छु है। अभी हाल में अमेरिका से उसके प्रतिनिधि आए हुए हैं। वह पाकिस्तान को तो यह समझा नहीं पाए कि वह घुसपैठिए बाहर निकाले। उन्होंने किसी भी तरह की वार्ता करने से इंकार कर

दिया है, यह सही कदम है।

प्रायः लोग यह कहते सुने जाते हैं कि पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर है। वह ज्यादा दिन युद्ध में टिक नहीं पाएगा। इस तरह के आकलन बहुत आत्मघाती होते हैं। दूसरों की कमजोरी को अपनी शक्ति मानना, यह सही रणनीति नहीं हो सकती। हम कितने दिन टिक पाएंगे, वही हमारी असली शक्ति है और दुश्मन को कम करके आंकना भी अपने को धोखा देना होता है क्योंकि यही भ्रम हमें पूरी तैयारी करने नहीं देता। आखिर वे भी तो कोई शक्तियां ही हैं न, जो भाड़े पर घुसपैठ कर रही हैं। यह अलग बात है कि पाकिस्तान विकास की रकम घुसपैठ पर खर्च कर रहा है।

कहा जा रहा है कि पाकिस्तान की सेना और सरकार दोनों अपने-अपने निर्णय लेते हैं। भाड़े के घुसपैठिए अलग एक तीसरी शक्ति के रूप में सरकार पर अपना निर्णय थोप रहे हैं। गाँधीजी ने कहा था कि हथियारों से जीती हुई लड़ाई पर हथियार वालों का ही कब्जा हो जाता है। फिर भी हमें इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि पाकिस्तान सरकार घुसपैठियों को लौटाने में अक्षम है। इस समय भारत में पूरा विपक्ष कारगिल के मुद्दे पर सरकार से यह अपेक्षा ज़रूर रखता है कि वह विपक्ष को विश्वास में लेकर ही कोई महत्वपूर्ण फैसला ले। विपक्ष की बैठक तो बुलाई गई लेकिन साथ-साथ राज्यसभा का सत्र भी बुलाया जाना चाहिए ताकि पूरे देश की जानकारी में निर्णय लिए जा सके। इन सबके बावजूद यह सिलसिला कितना लंबा चलेगा, यह जानना भी ज़रूरी है। अगर यह लंबा चलेगा तो तैयारियां भी उसकी लंबी-चौड़ी होनी चाहिए। यद्यपि कि हम युद्ध करने के इच्छुक नहीं हैं, फिर भी यदि युद्ध होता है, तो युद्ध के मैदान में तो उसे मुँह तोड़ जवाब ज़रूर देना ही होगा। हमें भी ऐसी कूटनीतिक स्थितियां पैदा करनी होंगी कि यह सिलसिला ज्यादा लंबा नहीं चले। चुनाव तक यदि यही हालत रही तो स्वतः मन में यह शंका उठेगी कि कहीं चुनावी लाभ के लिए तो लड़ाई को लंबा नहीं खींचा जा रहा है। इसलिए भारत सरकार को इस लड़ाई को पूरे देश को विश्वास में लेकर जल्द-से-जल्द खत्म करने का प्रयास करना होगा, तभी घुसपैठियों के घुसने देने की, इनकी भूल की भरपाई होगी।

इधर हमारे देश के प्रधानमंत्री ने भारत-पाक रिश्तों को मजबूत करने के लिए बस में पाकिस्तान की यात्रा कर एक नया रंग देने की कोशिश की है। दरअसल यह एक भावुक कवि प्रधानमंत्री का उठाया गया भावना-प्रधान कदम ही है। अगले ही दिन भले वहाँ की एक लेखिका ने कश्मीर की शर्त पर प्रधानमंत्री से शादी करने की इच्छा प्रकट की थी किन्तु दोस्ती के सारे नाटक करने के बावजूद नवाज़ शरीफ ने कश्मीर के मुद्दे को अन्तरराष्ट्रीय स्तर तक ले जाने की बात दोहरा ही दी, जिसके एवज में वाजपेयी जी को दुर्योधन के शब्दों में कहना पड़ा था “एक इंच भी भारत की ज़मीन उन्हें नहीं देंगे!” भावुक यात्रा के बाद भावुक-घोषणाएं। बस उनकी यही भावुक

**कारगिल घटने ही क्यों दिया गया?**

राजनीति है जिसका वे लाभ उठाते हैं। उनके इस कदम ने भले शिव सेना की क्रिकेट की पिच खोद कर पाकिस्तानी टीम को भारत में न आने देने की शत्रुता-पूर्ण मुहिम से हुए घाव को मलहम लगाने का काम किया हो, पर घाव भरेगा या नहीं इसकी कोई गारंटी नहीं। असल में भारतीय मानस के घाव को तो कुम्बले ने ही दस विकेट लेकर, विश्व रिकार्ड बना कर भर दिया था और शिवसेना के मुंह पर करारी चपत भी मार दी थी। हाँ पूँजीवादी स्वार्थ के तहत इस यात्रा से दोनों देशों के तिजारत में बढ़ोतरी भले संभव हो लेकिन वाजपेयी और नवाज़ शरीफ, जिस समय हाथ मिला रहे थे, उस समय काश्मीर में निर्दोषों की हत्या भी जारी थी।

## इराक-युद्ध का अर्थशास्त्र

यह युद्ध नहीं बल्कि युद्ध का उद्योग है, जो वर्चस्व जमाने के लिए अमेरिका का अस्त्र है। यह युद्ध सीमाओं के विस्तार के लिए नहीं, बल्कि व्यापार विस्तार के लिए है। 'मॉडल एण्ड नेचुरल रिसोर्सिज मैनेजमेंट-1 मिलान टैक्नीकल यूनिवर्सिटी' के अनुसार है 'सन् 1991 वर्ष में इराक के खिलाफ युद्ध में अमेरिका ने चालीस बिलियन डॉलर खर्च किए थे। इसमें अमेरिका ने 25% खर्च किया था यानी दस बिलियन डॉलर और बाकी 75% यानी तीस बिलियन डॉलर 'अरब देशों', विशेषतः कुवैत और सऊदी अरब ने किया था। यह साठ बिलियन डॉलर की राशि तेल का दाम बढ़ा कर, विशुद्ध मुनाफे में कमायी गयी थी। इसमें से तीस बिलियन डॉलर तेल कंपनियों के हिस्से आये और तीस बिलियन डॉलर अरब राज्यों को मिले।'

मध्य-पूर्व में तेल निकालने का कार्य अमेरिका की सात कम्पनियाँ (शैल, एस्सो आदि) करती हैं जिनमें पाँच अमेरिकी सरकार की कम्पनियाँ हैं। इस प्रकार तीस बिलियन डॉलर की राशि जो अमेरिकन कम्पनियों को तेल का दाम बढ़ाने से मिली इसमें से लगभग इक्कीस बिलियन डॉलर अमेरिका की सरकार को मिले और 9 बिलियन निजी तेल कम्पनियों को। हिसाब लगाने पर जो आंकड़े सामने आते हैं, वे चौंकाने वाले हैं। इस युद्ध में अमेरिका को 20 बिलियन डॉलर का विशुद्ध मुनाफा हुआ।

उस युद्ध पर अरब देशों का तीस बिलियन डॉलर खर्च हुआ और अमेरिकन सरकार का दस बिलियन डॉलर। अमेरिका के निजी क्षेत्र की कम्पनियों ने एक भी धेला खर्च नहीं किया। तेल का दाम बढ़ाने से अरब देशों को तीस बिलियन मुनाफा मिला था। उनका खर्च भी हुआ था, यानी नो लॉस नो प्रॉफिट। अमेरिकी सरकार को मुनाफा मिला था इक्कीस बिलियन पर खर्च हुआ था नौ बिलियन, यानी विशुद्ध ग्यारह बिलियन का मुनाफा। अमेरिकी निजी कम्पनियों को मुनाफा मिला था नौ बिलियन और खर्च एक पाई भी नहीं किया, यानी मुनाफा मिला नौ बिलियन। इस प्रकार अमेरिकी सरकार और निजी क्षेत्र ने मिलकर 1991 में इराक के युद्ध से कमाया बीस बिलियन डॉलर का विशुद्ध मुनाफा और डिंडोरा पीटा कुवैत की आजादी का। अर्थात् 1991 के इराक-युद्ध का खर्चा अमेरिका ने वहन नहीं किया। इसे वहन किया उन सारे देशों ने जो तेल का इस्तेमाल कर रहे हैं।



अमेरिका को कुवैत या उसकी आजादी से कुछ लेना-देना नहीं था। उसे चाहिए था मुनाफा, जो मिल गया। यह कहानी यहाँ भी खत्म नहीं होती। 1991 में इराक के खिलाफ युद्ध का खर्च वास्तव में हमने आपने या और भी जो लोग तेल का इस्तेमाल करते हैं, उन सब ने किया।

उस युद्ध में अमेरिका की सरकार को तेल से ग्यारह बिलियन डालर मुनाफे के अतिरिक्त, शस्त्र बेचने से भी उनचास बिलियन डालर मुनाफा मिला था। इस युद्ध उद्योग के जुनून के किस्से का यहीं अन्त नहीं होता। युद्ध पर जो चालीस बिलियन डालर खर्च किया गया था वह भी इस युद्ध-उद्योग के पेट ही में समा गया था। यह उद्योग भी पूरी तरह अमेरिकी है उस पर उसी का कब्जा है।

निष्कर्ष साफ है। 1991 का खाड़ी-युद्ध 'मानवीय' या 'आजादी के अधिकार' के कारणों से नहीं बल्कि विशुद्ध आर्थिक लाभ की मंशा के चलते इराक पर थोपा गया था।

इसी पीरप्रेक्ष्य में पहले अफगानिस्तान और अब इराक पर जबरन युद्ध लादने की मंशा आसानी से समझी जा सकती है। अफगानिस्तान के युद्ध के पीछे मुख्य कारण था तेल के लिए 2,500 किमी. पाइप लाइन का अमेरिकी कम्पनी द्वारा बिछाया जाना। टावर की घटना ने युद्ध छेड़ने और विश्व से सहानुभूति पाने का एक सशक्त बहाना ही नहीं उपलब्ध कराया बल्कि तत्काल युद्ध छेड़ने का रास्ता भी साफ कर दिया था। वरन हमला तो अमेरिका को करना ही था अफगानिस्तान पर। सच्चाई तो यह है कि यदि अमेरिका को अफगानिस्तान की बजाय पाइप लाइन दूसरे देशों से होकर बिछानी पड़ती तो यह फासला 2500 किमी. की बजाय 5500 किमी. हो जाता। फिर उन देशों को लाइन बिछाने और उसके रख-रखाव के लिए भारी भरकम 'कर' भी चुकाने पड़ते, जिससे लागत मूल्य बहुत अधिक हो जाता। अफगानिस्तान पिछले तीस वर्षों से युद्ध के दौर से गुज़र रहा था। उसे युद्ध-भूमि बनाने का कारण भी खुद अमेरिका ही था। खूब शस्त्र बेचे थे वहाँ अमेरिका ने। उसे नेस्तनाबूद करके छोटे रास्ते से पाइप लाइन बिछाना अमेरिका के लिए कहीं ज्यादा आसन था, बजाय दूसरे देशों से पाइप लाइन ले जाने के। इसलिए अमेरिका के लिए अफगानिस्तान पर हमला करना ज़रूरी था।

अब छोटे (जूनियर) बुश ने इराक पर पुनः हमला करने की क्यों ठानी, यह जानने के लिए यह जानना भी ज़रूरी है कि मध्य पूर्व में तेल का सबसे बड़ा आपूर्तिकर्ता सऊदी अरब है और सऊदी अरब बिन-लादेन के आतांकवादी अभियान के जुड़ा है। सऊदी अरब के पक्ष में विश्व की राय इसलिए भी नहीं है कि वहाँ 'मानवीय अधिकारों' की कोई कदर नहीं है। इसलिए अमेरिका को सऊदी अरब से रिश्ते में आई दरार पाटना कठिन हो गया। इसलिए बुश प्रशासन का लक्ष्य मध्य-पूर्वी क्षेत्र में तेल के लिए सऊदी अरब के अलावा दूसरा विकल्प खोजना लाजमी हो गया।

बस सबसे आसान तरीका था इराक पर हमला करके वहाँ अमेरिका की कठपुतली सरकार बनाना और तेल के जखीरों पर वर्चस्व जमाना।

सवाल उठ सकता है कि इराक पर ही हमला क्यों?

चूँकि यह देश अपनी रक्षा करने में सक्षम नहीं है! इराक में गरीबी के चलते हर वर्ष तीन लाख बच्चे कुपोषण के कारण मरते हैं। इस गरीबी के मुख्य कारण अमेरिका द्वारा इराक पर पिछले दस वर्षों से लगाए गए प्रतिबन्ध ही हैं।

चूँकि अन्तरराष्ट्रीय समुदाय, जो तेल के जखीरों के बारे में अनभिज्ञ है, इराक पर हमलों के लिए बहाना बनाए गए इस आरोप को झुठला नहीं सका कि इराक के पास विध्वंस व विनाश के हथियारों का जखीरा है। ऐसे हथियारों के उत्पादन के लिए उच्च तकनीकी योग्यता चाहिए, जो इराक के पास नहीं है। लेकिन अब तो यह भेद भी खुल गया है कि इराक को हथियार देने वाले वही लोग हैं, जो उसे हथियार रखने का दोषी बता कर युद्ध कर रहे हैं। अब जादू सिर चढ़ कर बोलने लगा हैं। खुद बर्तानिया जो युद्ध में अमेरिका का साथ दे रहा है, के पूर्व मंत्री श्री रॉबिन कुक, जो अभी तक कैबिनेट मंत्री थे, ने इस राज को खोला है कि 'इराक के पास रसायानिक अस्त्र नहीं हैं। जो थोड़े बहुत होंगे वे वही हैं जो हमने उन्हें दिए थे'। ऐसे 1991 के इराक पर हमले के दौरान अमेरिकियों द्वारा तीन सौ टन से ज्यादा डिप्लेटिड यूरेनियम (DU) से बने हथियारों का इस्तेमाल किया था, इसे स्वयं अमेरिकी सरकार ने स्वीकार किया है। ये हथियार रसायनिक हथियारों से कई गुना ज्यादा खतरनाक और विषाक्त होते हैं।

चूँकि किसी ऐसे सशक्त देश का समर्थन उसे प्राप्त नहीं हुआ जो अमेरिका से टक्कर ले सके।

इन कारणों के अतिरिक्त एक और कारण था वैन्जुएला जो अमेरिका का सबसे बड़ा तेल आपूर्तिकर्ता है। वहाँ पिछले तीन वर्षों से अत्यन्त ही कष्टदायक एवं अमानवीय परिस्थितियों के चलते सामाजिक विद्रोह की स्थितियां पैदा हो गई हैं, इसलिए भी अमेरिका को सऊदी अरब और वैन्जुएला का विकल्प चाहिए ही चाहिए था। इसलिए भी इराक पर हमला ज़रूरी था।

इराक पर हमले के पीछे बस एक ही कारण मुख्य है वह है तेल और तेल के क्षेत्र पर वर्चस्व, चूँकि तेल देता है मुनाफा! उसके लिए ज़रूरी है शस्त्र-उद्योग, जिसका जन्मदाता, पोषक और अधिष्ठता, स्वामी या मालिक, अमेरिका ही है।

युद्ध तो उसके धन्धे की एक तकनीक है तौर तरीका है!

काश हम समझ पाते इस मानसिता को! अनजान व्यक्ति को गुमराह करना आसान है लेकिन तर्कशील व्यक्ति अड़ सकता है!

अब ज़रूरत है सभी देश, हम, आप और आम जन समझें मुनाफे और वर्चस्व की इस मानसिकता को और इस उद्योग के खिलाफ जो विशुद्ध मुनाफे पर आधारित

है, उठ खड़े हों। विरोध तो हो रहा है इस युद्ध का, पर वर्चस्ववादी शक्तियों की दादागिरी खत्म करने के लिए कुछ और ज़रूरी है ताकि उसे मुँहतोड़ जवाब दिया जा सके।

मुनाफे की यह ललक ही जन्मदात्री है उपभोक्तावाद की। यह ललक लील जाती है मानवीय मूल्यों को और मनुष्य एक 'वस्तु' भर बन जाता है। यह ललक व्यक्ति में हो तो वह अपने से कमजोर व्यक्ति या व्यक्ति-समूह पर अपना फार्मूला आजमाता है। जब यह ललक कोई देश या देशों का समूह पाल ले तो वह कमजोर देशों को अपनी चारागाह बनाता है? चारागाह बनाने की यही ललक ही तो जननी है वैश्वीकरण की। यह अलग बात है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया में मनुष्य के वैज्ञानिक विकास ने सुविधाएँ उपलब्ध कराई हैं कि अब यह कहा जा सकता है कि 'विश्व एक गाँव' बन गया है। पर यह 'विश्व एक गाँव' उस गाँव का पर्याय नहीं है जहाँ सब एक-दूसरे के सहयोग से विकसित होने का सपना पालते हों और एक-दूसरे के कष्टों को कमजोरियों को मिल कर दूर करने को सकल्पित होकर समता, भाईचारा और आजादी के मूल्यों का निर्माण करने के लिए प्रतिश्रुत हों। आज के 'विश्व-गाँव' में तो एक की कीमत पर दूसरा विकसित होना चाहता है। इसलिए जहाँ वह विकास के नए-नए तरीके इजाद करता है, वहीं वह विनाश की तरकीबें भी गढ़ता है ताकि वह सुपरमैन बन सके, अपना वर्चस्व, अपना दबदबा कायम कर सके। विडम्बना यह है कि इस वैश्वीकरण का शिकार भी वही होते हैं जिन्हें विकास की ज़रूरत है यानी कमजोर लोग या कमजोर देश। अजीब विडम्बना है। नीत्से का 'सुपरमैन' का सिद्धान्त या आदिम युग में प्रचलित डार्विन का 'सक्षम ही जिएगा' (Survival of the fittest) का सिद्धान्त लागू करने की योजना चल रही है। आदिम युग में मनुष्य और जानवर में कोई खास अन्तर नहीं था, सिवाए इसके कि एक चार पैर पर चलता था और दूसरे ने चार में से दो पैरों को हाथ की तरह इस्तेमाल करना सीख लिया था। तब जीने के लिए सक्षम होने की ज़रूरत थी। कमजोर को मार दिया जाता था। अब जब मनुष्य सदियों पार करके मनुष्यता की बात करने लगा है और कमजोरों की रक्षा के मूल्य गढ़ने में सक्षम हो गया है तो क्या सुपरमैन का सिद्धान्त लागू कर आज वह आदिम युग की ओर नहीं लौट रहा? आदिम युग में भी लोग चारागाहों की खोज में दूर-दूर तक जाया करते थे। युद्ध होते थे और कब्जे होते थे। तब और अब में फर्क इतना ही है कि तब लोग पांव पैदल जाते थे समूह में पूरा कबीला जाता था। अब मिसाइल जाते हैं हवाई जहाज जाते हैं। जो वर्षों में होता था अब घंटों और मिनटों में संभव हो गया है। बर्तानिया से उड़ता है मारक हवाई जहाज और छः घंटे में इराक में आग बरसाने पहुँच जाता है।

कभी-कभी तो लगता है मनुष्य विज्ञान के सामने हार गया है। वह उसके सहारे प्रकृति पर कब्जा करते आया है पर आज लगता है जैसे वह अपने अस्तित्व को

निरर्थक समझ रहा है। वह सरप्लस होते जा रहा है या खुद को या मनुष्य की कौम को सरप्लस समझने लगा है। काम नहीं है क्या इसलिए वह खुद को नष्ट कर रहा है। यह सही है ऐसा सोचने या करने वाले कुछ ही लोग हैं, जो बेहद समृद्ध, साधन-सम्पन्न और वर्चस्ववादी हैं। वे अरबों की संख्या में मौजूद उस मनुष्य के लिए चिन्तित नहीं हैं, जो काम करने के लिए आतुर है जो मेहनत करके भी भूखा रहता है। ऐसे लोग या देश मुनाफे की परिभाषा, जिसे टेक्नोलॉजी ने सुदृढ़ कर दिया है के कारण खुद को अजेय मानने लगे हैं चूँकि उन्होंने विध्वंस का भेद जान लिया है और अब तो मनुष्य का क्लोन बनाकर मनुष्य का विकल्प भी इजाद कर लिया है। भले ये चन्द लोग या चन्द देश अपने को सुरक्षित समझते हों पर ये सोच ही उन्हें खत्म कर देगी चूँकि वे दूसरों को खत्म कर अपना वर्चस्व जमाने के चक्कर में इतने अकेले पड़ जाएँगे कि खुद को भी खत्म कर लेंगे। कुछ सिरफिरे अणुबम का प्रयोग भी करके पृथ्वी को मरघट बनाने का दम्भ ही नहीं पालते वरन् वे उसका उपयोग कर पृथ्वी को ही विध्वंस के ब्लैकहोल में डाल दे सकते हैं। ये उपनिवेशवादी गोरे जो विश्व को सभ्यता सिखाने का दम भरते हैं और मानवता का नारा लगाते हैं, किस पर राज करेंगे, किसे सभ्य बनाएँगे, किस मानवता की रक्षा करेंगे?

अजीब विडम्बना है कि हिटलर को पैदा करने वाला देश जर्मनी, आज युद्ध के विरुद्ध खड़ा है और हिटलर और उनके सथियों को तानाशाह और फासिस्ट के कटघरे में खड़ा करके सजा देने का दम भरने वाला अमेरिका और उसका साथी चर्चिल और टोनी बेलयर का बर्तानिया, हिटलर की राह चल रहे हैं। फर्क इतना है कि हिटलर विस्तारवादी था, ये मंडीवादी हैं। कहावत है 'प्रेम और युद्ध' में सब जायज है (Everything is fare in love and war) लेकिन इनकी नज़र में मुनाफे के लिए सब जायज है।

अब इन्तज़ार है जब मनुष्य प्रेम के सच को जायज करार करने में सक्षमता हासिल कर लेगा।

## भारतीय संस्कृति बनाम हत्याओं की संस्कृति

भारतीय संस्कृति में हिंसा तो धर्मशास्त्रों ने ही कूट-कूटकर भर रखी है, इसलिए बुद्ध और महावीर को छोड़कर भारतीय देवता, जो हिन्दू देवता ही हैं, सदा हथियारों से लैस पाए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति में वर्चस्व की लड़ाइयाँ शास्त्रार्थ और शस्त्र दोनों से समान रूप से होती रही हैं। शास्त्रार्थ में पराजित हो जाने के बाद शस्त्र का उपयोग भी भारतीय संस्कृति का एक अंग रहा है जो 'समर्थ को नहीं दोष गुसाई' या 'समर्थ ही जिएगा' (Survival of The Fittest) जैसी वर्चस्ववादी उक्तियों को ही चरितार्थ करता है।

भारतीय संस्कृति में, अपने ही परिजनों की हत्या, स्वर्ग भी सुनिश्चित करती है। यहाँ हत्या करने को पाप नहीं माना गया, इसलिए यज्ञ में नरबलि जरूरी थी और आज भी उसके भले प्रतीक रूप में ही क्यों न हो। अनुष्ठानों में कोई-न-कोई बलि अनिवार्य होती है। इन सब के बावजूद आम आदमी इनके खिलाफ न तब विद्रोह करता था और न आज कर रहा है, भले मारा जाता था वह और आज भी मार दिया जा रहा है। यदि वह वाणी या शास्त्र से विद्रोह करता था, तो उसका साहित्य ही नष्ट कर दिया जाता था जैसे लोकयत, बुद्ध या चार्वाक के धर्म या मत के साथ हुआ। जो शस्त्र उठाने के योग्य हो जाता था, वह या तो एकलव्य की तरह अपंग कर दिया जाता था या मार दिया जाता था। उसके शौर्यपूर्ण बलिदान को इतिहास से मिटा दिया जाता था या अपने अनुरूप गढ़ लिया जाता था। आज मीडिया तथा संगठन के चलते यह संभव नहीं हो पा रहा है। यह वर्चस्ववादी दोहरे मापदंडों वाली भारतीय संस्कृति का प्रचार अहिंसा, मानवता और अद्वैत का दंभ तो भरती रही किंतु रही सदैव हिंसात्मक, अमानवीय और जातीय श्रेष्ठता के दंभ से परिपूर्ण। जब भी कोई शक्तिशाली विरोधी इसके सामने आया तो इस संस्कृति ने समर्पण किया या कि आत्महत्या अथवा अपने दरवाजे बंद कर लिए। इक्का-दुक्का उदाहरण छोड़कर आमने-सामने की लड़ाइयों में, इसके शौर्य का कोई सतत इतिहास नहीं मिलता। इतिहास अगर है भी तो वह अतिशयोक्तिपूर्ण है, गढ़ा हुआ है, चमत्कारिक है जिसमें कतिपय जातियों के गौरव और प्रभुत्व को बढ़ा-चढ़ाकर दर्ज किया गया है।

भारतीय संस्कृति में हिंसा के ऐसे दौर, कभी सांप्रदायिक दंगों, कभी दलित

हत्याओं और कभी विरोध या विद्रोह अथवा बदलाव के प्रतीक महत्वपूर्ण व्यक्तियों की हत्याओं के रूप में बराबर आते रहे हैं लेकिन प्रश्न है ये हत्याएँ किसके हितार्थ की जाती रहीं? जब मानवता की परिभाषा केवल कुछ वर्गों और वर्णों तक सीमित थी, तो आम जन को कीड़े-मकोड़े की तरह मार दिया जाना आम बात थी। जब मानवता का अर्थ व्यापक हुआ तो बहुजन, जो आम लोग हैं, के हित का प्रश्न उठने लगा। फिर पुरानी व्यवस्था और पुराने मूल्यों में परिवर्तन की चाह जगी, जिसके विरोध में हिंसा के कई दौर चले। इन सब के बावजूद, बहुजन मानव के हितों और चंद शक्तिशालियों तथा सुविधाभोगियों के हितों को तौला जाना जारी रहा। जब-जब पलड़ा मानवता के पक्ष में झुकता था विरोध मुखर होता था हिंसा भी बढ़ती थी। फिर भी आजादी समानता बंधुत्व के नारे के साथ क्रांति के जोखिम भरे रास्तों से होता हुआ यह अभियान हिंसा को झेलता, जवाब देता, सतत् बढ़ता रहा है और उपनिवेशवाद के खात्मे से लेकर व्यक्तिगत आजादी के लिए जूझता आ रहा है। आजादी से पहले हम भारतीय भी साम्राज्यवादियों की हिंसा के शिकार होते थे और हमने भी उनके विरुद्ध हिंसा का इस्तेमाल किया, जो सराहनीय माना गया था क्योंकि वह मुक्ति और परिवर्तन की चाह लिए था। हमें आजादी मिली लाशों की अदला-बदली से ही। उसके बाद हुई गाँधी की हत्या। फिर चला हर वर्ष दंगों में की जाने वाली हत्याओं का सिलसिला!

आजादी ने एक और भूख जन-मानस में जगायी थी, जो शोषण से मुक्ति और व्यवस्था-परिवर्तन की चाह में भीतर-भीतर धधक रही थी। यह साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ाई नहीं थी बल्कि यह देश के सामंतों और शोषकों के विरुद्ध अनवरत मुहिम थी जिसने रूप लिया परिवर्तन चाहने वालों की जमात का। उसकी प्रतिक्रिया में परिवर्तन-विरोधी जमातें भी एकजुट होने लगीं। आज देश में इन्ही दो परस्पर विरोधी चाह वालों की टकराहटें बढ़ी हैं। एक तरफ यथास्थिति बनाए रखने वाली ताकतें दूसरी तरफ यथास्थिति को भंग कर नई समानतावादी समाज निर्मित करने वाली ताकतें। इसके अतिरिक्त अन्य कई हितों के लिए भी हिंसा होती रही है जिसमें क्षेत्रीयता और धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा प्रमुख है। इधर अस्मिता, अस्तित्व और समानता के लिए भी भूख बढ़ने के साथ-साथ हिंसा भी और बढ़ी है। एक तरफ परिवर्तन चाहने वाले हैं, तो दूसरी तरफ परिवर्तन रोकने वाले। परिवर्तन चाहने वालों के खिलाफ भारतीय संस्कृति की सामंती, जाति और वर्गीय वर्चस्व वाली दोनों ताकतें एकजुट होकर हमला करने लगी हैं, जिसका उदाहरण है बिहार, उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में वर्ग और वर्ण के नाम पर हुए अनेक क्रमबद्ध नरसंहार!

अब स्थिति बदल बिल्कुल गई है। जातीय और सामंती ताकतों के साथ अपराधी भी जुड़ने लगे हैं और वे परिवर्तन चाहने वाली जनता के साथ-साथ उनके नेताओं को लक्ष्य बनाकर योजनाबद्ध ढंग से हत्याएँ करने लगे हैं। पहले यही ताकतें

सामंती ताकतों के लिए बूथ लूटा करती थीं, वोट लूटा करती थीं। अब उस मोर्चे पर नाकाम होने के बाद से, ये ताकतें परिवर्तनवादी शक्तियों के प्रतीक जन-नेताओं की हत्या करने लगी हैं।

हाल ही में पूर्णियां (बिहार) माकपा के जनप्रिय जुझारू नेता दिवंगत कामरेड अजीत सरकार, जिन्होंने सामंतों के कब्जे की नाजायज ज़मीनों पर भूमिहीनों को कब्जा दिलाया (जिसमें कई साथी शहीद भी हुए), की हत्या कर दी गई। यह हत्या भूमिपतियों, अपराधियों के साथ-साथ राजनीतिक पार्टियों के दायरे तोड़कर कतिपय नेताओं एवं नौकरशाहों के साझे षड्यंत्र का प्रतिफल है। अजीत सरकार ने पूर्णियां जिले में जहाँ सैकड़ों एकड़ ज़मीन बेनामी मालिकों के नाम है जहाँ हर देवी-देवता और कुत्ते-बिल्ली के नाम से सामंतों की जमीन सरकारी खातों में चढ़ी हुई है उस ज़मीन की निकासी की लड़ाई शुरू की और जोतने वाले किसानों को उनका हक दिलाने की मुहिम छेड़ी। इसी से क्रुद्ध होकर राजनीतिक दायरे तोड़कर सबने मिलकर उनकी हत्या करवा दी। एक बार फिर से मर्यादाएँ तोड़कर अभिमन्यु की हत्या कर दी गई है।

कामरेड अजीत सरकार की हत्या ने पुआल की ढेरी में एक चिनगारी लगा दी है। इस आग से बचने के लिए अब अपराधी भले एकजुट हो रहे हों लेकिन कब तक बचेंगे वे आग की लपटों से? बस हवा के जोर पकड़ना है!

बृजबिहारी प्रसाद की हत्या पुलिस बंदूकधारी अंगरक्षकों के सामने होती है जो भाग जाते हैं। यह कस्टडी में एक पूर्व मंत्री की हत्या है जो विशुद्ध राजनीतिक है। यह हिंसा दो यथास्थितिवादी शक्तियों के वर्चस्व की लड़ाई का परिणाम है। ठीक उसी प्रकार चतरा में दो नक्सली गुटों में हुई हिंसा जिसमें दस लोग मारे गए थे अपने को परिवर्तनकामी कहने वाली शक्तियों के वर्चस्व की लड़ाई का प्रतिफल थी। इसमें दुश्मन नहीं मरा दोनों के कैडर मरे थे।

क्या ऐसी हिंसाओं में मरने वालों को शहीद कहा जा सकता है अथवा मारने वालों को योद्धा, विद्रोही या परिवर्तनकामी कहा जा सकता है? लेकिन आज प्रायोजित ढंग से अपराधियों को भी शहीद की संज्ञा देने का चलन चल पड़ा है, यानी हम सोलहवीं सदी और उससे पीछे लौट रहे हैं।

अटका की हिंसा महाजनों और भूमिहीनों के साथ-साथ राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता और वर्चस्व की हिंसा तो है ही लेकिन सरकार द्वारा जान-बूझकर भूमि-विवादों को लटकाए रखना भी इसका एक प्रमुख कारण है। नौकरशाही हमेशा से ही दलित विरोधी ही होती है। वह दलित हितों में मामले लटकाकर महाजनों का हित साधती रहती है।

जहानाबाद नरसंहार परिवर्तन-विरोधी सेनाओं के गुस्से का इजहार था। ऐसे अनेक नरसंहार बिहार में होते रहे हैं। इन नरसंहारों में शहीद हुए साथी अपने

रक्तबीज छितरा गए हैं, जो अनेक बनकर पैदा हो रहे हैं तो परिवर्तन-विरोधी शक्तियाँ अब सुरक्षात्मक लड़ाई लड़ रही हैं। इसलिए हमें गम नहीं है शहीद होने का चूँकि हमारा लक्ष्य परिवर्तन है। केवल दुख है उन निरर्थक हत्याओं का जो आपसी वर्चस्व की लड़ाई के कारण होती हैं। नरसंहारों या व्यक्ति विशेष हमलों में शहीद हुए साथियों की कुर्बानी निरर्थक नहीं होने दी जा सकती, न ही उसके अभियुक्तों और सूत्रधारों को खुला छोड़ा जा सकता है। हिसाब तो होगा ही देर-सबेर। अब छेड़ दिया तो छोड़ा नहीं जा सकता।



## मीडिया लोकतंत्र का खम्भा है या अभिजातों का?

### घरेलू हिंसा कानून

नया वर्ष 2007 कुछ नयी आशाएँ, सम्भावनाएँ और शंकाएँ लेकर हाजिर हो रहा है। पिछले वर्ष की कुछ दुःखद व सुखद स्मृतियों से क्रमशः मन बेचैनी व सुकून में ऊब-डूब रहा है। पिछले वर्ष की कुछ उपलब्धियाँ थीं महिलाओं के लिए घरेलू हिंसा कानून, जिसकी परिधि में परित्यक्ता व मित्र स्त्रियों को भी शामिल कर लिया गया। सबसे बड़ी बात है कि अब इन्हें कोई घर से बाहर नहीं निकाल सकेगा। यह कितना लागू होगा कितना नहीं, यह तो समय ही बताएगा लेकिन यह एक सार्थक कदम है, इसमें दो मत नहीं। पुरुष-प्रधान राष्ट्रीय मीडिया द्वारा इस कानून के बनने पर अपने अखबारों के हेडलाइन में इस कानून को सनसनीखेज़-सा बनाते हुए पुरुषों को चेतावनी देना, सावधान करना या यह अहसास दिलाना कि 'अब मर्दों की खैर नहीं', एक हास्यास्पद और बचकाना हरकत है। लगता है मीडिया भी घरेलू हिंसा को एक साधारण-सी आमफ हम आदत मानता है, जिस पर गौर करने की जरूरत नहीं। यानी, ऐसा तो होता ही रहता है या यह तो हर घर में होता है, कोई खास बात नहीं है। इसे यानी स्त्री पर बापती हिंसा रोकना कठिन है।

चौथे खंभे की यह मानसिकता दुःखद ही नहीं गैर-जिम्मेवार और शोचनीय है। दरअसल भारत में तो पहले भी मीडिया की ग़लत बयानियों से दंगे होते रहे हैं। मीडिया चाहे तो घरेलू हिंसा के कानून को लागू करवाने में सहयोग कर सकता है। पर वहाँ भी तो स्त्री और दलित-विरोधी लोगों की भरमार है, इसीलिए तो पूरे महाराष्ट्र और राष्ट्रीय प्रेस ने खैरलांजी जैसी दमनकारी घटना को नज़रंदाज कर दिया। हरियाणा में भी दलितों पर हुई घटनाओं को किसी राष्ट्रीय प्रेस ने नहीं छापा, जबकि शेयर मार्किट के उछाल और गिरावट को उनके यहाँ कभी-कभी पहले पन्ने पर भी जगह मिल जाती है। खैरलांजी की घटना वर्ष 2006 की शर्मनाक घटनाओं में से है। घटनाएँ तो और भी घटीं, जिसमें एक तो सद्दाम हुसैन को फाँसी की सज़ा सुनाना और फिर गुपचुप तरीके से, जबर्दस्ती फाँसी पर लटका देना, तो दूसरी ओर अफ़ ज़ल की फाँसी की सज़ा, जिस पर खूब राजनीति हुई और हर दल ने रोटियां सेंकी। मीडिया ने भी बहती गंगा में हाथ धोए पर जिस तरह मीडिया ने कुछ खबरों को दबाया और कुछ को बेवजह उछाला, जिससे कुछ खबरें गंभीर

मसला न रह कर विवादित मुद्दे बन गई, से मीडिया का गैर जिम्मेदाराना रुझान ही प्रदर्शित होता है।

### क्या मीडिया चौथे खम्भे की भूमिका निभाता है?

इस बार फिर हम अपनी बात करनाल में घटित दलित-उत्पीड़न की घटना से शुरू कर रहे हैं। रविदास जयंती मनाने के लिए हरियाणा में करनाल के पास महमदपुर में गाँव के दलित गाजे-बाजे सहित जुलूस निकालकर जश्न मनाना चाहते थे पर ये वहाँ के अभिजात वर्ग को मंजूर नहीं था। सवर्ण प्रधान पुलिस भी भला क्यों पीछे हटती? एक साजिश के तहत दलितों को जयंती मनाने से न सिर्फ रोका गया बल्कि उन्हें लाठी-डंडे और बंदूक के कुंदों से बुरी तरह पीटा भी गया। कड़ियों की हड्डियाँ टूट गईं और कड़ियों के कुल्हाड़ी के वार से अंग कट गए। तुरा यह कि पुलिस ने उन्हीं लोगों को दंगे का अपराधी ठहराते हुए उन पर संगीन धाराओं में मुकदमें दायर कर दिए। कुल्हाड़ी के वार से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि स्वर्णों और पुलिस ने एक साथ मिलकर संयुक्त रूप से दलितों पर हमला किया था। ऐसी घटनाएँ ये सिद्ध करती हैं कि अभी भी हम सोलहवीं शताब्दी में जी रहे हैं। हम इस बात से हैरान नहीं हैं कि हरियाणा के अखबारों में यह बात नहीं छपी लेकिन दिल्ली या राष्ट्र के किसी भी अखबार हिन्दी या अंग्रेजी ने भी इस खबर को छापना जरूरी क्यों नहीं समझा? राष्ट्रीय अखबारों ने होली के हुड़दंग छापने में या रामदेव स्वामी के मुद्दे को हवा देने अथवा शेयर के भाव में उछाल की खबर छापने में तो बड़ी मुस्तैदी दिखलाई लेकिन दलितों से मारपीट और उन पर झूठा केस लादने की पुलिस की हिमाकत की तरफ जनता व सरकार का ध्यान खींचने की, किसी अखबार ने जहमत नहीं उठाई। इसे जरूरत या जिम्मेवारी भी नहीं समझी उन्होंने। इससे मन शंकित हो उठता है कि क्या मीडिया अपनी चौथे खम्भे की भूमिका निभा रहा है या सवर्ण मानसिकता से ग्रस्त अभिजात समाज के हितार्थ अवसरवादी रवैया अपना रहा है।



इस वर्ष की ये तिमाही राजनैतिक, सामाजिक व अन्य कई मुद्दों पर काफी निर्णायक फैसलों या विचित्र वक्तव्यों व बर्बर घटनाओं से भरपूर रही। सबकी विस्तार से चर्चा करना तो संभव नहीं लेकिन सभी मुद्दों को छूते हुए कुछ की चर्चा विशेष रूप से करना चाहूंगी।

गोहना की घटना देश को शर्मशार करती है। आज जब मानवता की बात हो और मंगल तक पर मनुष्य की खोज हो रही हो, तो मनुष्य ही मनुष्य को इसलिए मार रहा है चूंकि वह अपने से कमजोर मनुष्य का विकसित आत्मसम्मान सहन नहीं कर पा रहा। गोहना का हत्याकांड और वाल्मीकि बस्तियों का जलाया जाना, वाल्मीकियों द्वारा पक्के घर बनाकर खुशहाली में रहने के कारण सवर्णों के मन में

उपजी ईर्ष्या का परिणाम था। अजीब विडम्बना है कि आप उन्हें घृणा भी करते हैं। उनका विकास भी नहीं होने देना चाहते लेकिन आप उन्हें हिन्दू भी कहते हैं, चूँकि सत्ता पर काबिज रह सकने हेतु आपको उनका वोट चाहिए। आज दलित जमात का एक हिस्सा सत्ता में भागीदारी करने की कुव्वत रखता है। आज दलित अपने वोट की कीमत ही नहीं जान गए बल्कि देश के धन और संपत्ति में अपने हिस्से का भी उन्हें ज्ञान हो गया है। फलतः वह विकास की तरफ अग्रसर होने की मुहिम चला रहे हैं। यही इन पूर्व विकसित तथाकथित मनुष्यों के लिए असहनीय है। दलित अब दया नहीं चाहता, न ही वह भीख माँगता है, वह अब अपना हिस्सा चाहता है। यह अहसास ही उनमें शत्रुता भाव जगाता है।

मनुष्य मात्र में एक करुण भाव होता है, जो सबके मन में प्रेम जगाता है पर हिन्दू धर्म में तो मनुष्य के प्रति इस प्रेम भाव का ही नकार है। उसने वर्णानुसार प्रेम, करुणा और न्याय के भी अलग-अलग बंटखरे तैय्यार कर रखे हैं। यह धर्म, मनुष्य को वर्णों में बाँटकर श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ बना देता है और जातियों में बाँटकर उसे सेवक, गुलाम, दास और अछूत के अलग-अलग पिंजरों में कैद कर देता है। इस पिंजरे को तोड़कर दलित क्यों बाहर आ गए या आ रहे हैं, इसी बात पर गोहना के सवर्णों का गुस्सा उनके प्रति उभरा था। उन्होंने दलितों के घर इसीलिए जला दिए थे क्योंकि वे उनका स्वाभिमान कुचलना चाहते थे। सवर्णों को अब यह समझ लेना चाहिए कि वे ज्यादा दिनों तक ऐसे नहीं चल सकते। विडम्बना तो यह है कि ये लोग सर्वण नहीं, जाट थे यानी अवर्ण ही थे, सवर्ण इन्हें पिछड़ी जाति का ही समझते हैं। हिन्दुओं में ये शूद्र की श्रेणी में आते हैं। ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने देश को इन्हीं जातियों में बाँट कर फाँक-फाँक कर दिया है। समाज या धर्म ऐसी घृणित मानसिकता तोड़ नहीं पाएगा उसे मानव मात्र का द्रोही ही माना जाएगा। ऐसा धर्म जो इस दृष्टिकोण और मानसिकता पर मोहर लगाता है, वह भी नाजायज़ है क्योंकि वह मनुष्य का धर्म नहीं, शैतान का धर्म है।

एक बात और। गोहाना के दलित गरीब नहीं थे। वे समृद्ध थे। अपनी बात भी कह सकते थे। इसलिए गोहाना कांड ने यह भी सिद्ध होता है कि वर्ग-संघर्ष या वर्गीय समानता या आर्थिक समृद्धि से ही वर्ण व्यवस्था खत्म नहीं की जा सकती। वर्ग के साथ वर्ण की लड़ाई लड़ना भी उतना ही ज़रूरी है।

## भय बिनु होई न प्रीति

जब कोई व्यक्ति या समाज किसी को शत्रु मान लेता है तो वह उसे अपनी घृणा का पात्र भी बना लेता है। चूंकि वह उसे बुरा ही देखना चाहता है, इसलिए उसकी अच्छाईयां भी उसे खटकने लगती हैं। एक तरफ जहाँ इस डाह के कारण वह शत्रु पर आधिपत्य जमाना चाहता है, वहीं वह उससे डरने भी लगता है और खुद को असुरक्षित भी महसूस करता है। असुरक्षा और भय की यह भावना ही उसके शत्रु-भाव को उकसाती व उभारती रहती है, जिस पर वह हर हाल में विजय पाना चाहता है। खुद समर्पित होने की बजाय, जैसा कि प्रेम में होता है, साम-दाम-दण्ड-भेद किसी भी प्रकार की साजिश के बल पर वह शत्रु का अपने समक्ष समर्पण चाहता है!

सवर्ण-समाज आरक्षण के मुद्दे को लेकर पिछड़ों और दलितों के प्रति जो रवैया अपना रहा है, वह उसकी इसी शत्रुवत प्रवृत्ति और मानसिकता का प्रतिफल ही है। दरअसल भारत में सवर्ण-मानस में दलितों के प्रति घृणा, सदियों से चले आ रहे संस्कारों के कारण एक ग्रंथि का रूप धारण कर चुकी है। इसे हम जाति-ग्रंथि भी कह सकते हैं। ये जाति-ग्रंथि केवल सवर्णों में ही व्याप्त नहीं है दलितों में भी है। जाति-प्रथा वहाँ भी उतनी ही मजबूती से कायम है, जितनी सवर्णों में। यह अलग बात है कि सवर्णों में यह ग्रन्थि श्रेष्ठता-बोध (Superiority Complex) के कारण है तो दलितों में थोपे हुए हीनता-बोध (Inferiority Complex) के कारण, पर मनोविज्ञान यह भी कहता है कि श्रेष्ठता-बोध हीनता-बोध से ही उपजता है। भय और असुरक्षा प्रायः हीनता-बोध में इजाफा तो करते ही हैं वे उसके कारक भी होते हैं। इतना ही नहीं यह जातिप्रथा दलितेत्तर या कहें हिन्दुत्तर समाज, जैसे मुस्लिम, ईसाई और सिख समाज में भी मौजूद है। अब यह ग्रंथि भारतीय मानसिकता को अपनी जकड़ में लेकर उसका अटूट हिस्सा बन चुकी है। इसे तोड़ने के लिए सरकार और समाज दोनों को कड़े और कठोर कदम उठाने होंगे।

भय से लागू की गई व्यवस्था को बिना भयभीत किये तोड़ना या खत्म करना इतना आसान नहीं है। भय कई तरीके से पैदा किया जा सकता है, जैसे कि सरकार के माध्यम से, समाज के माध्यम से या फिर दलित-पीड़ित-सर्वहारा समाज व वर्ग की क्रान्ति के रास्ते। इस क्रान्ति या विद्रोह में भी जब तक पीड़ित पक्ष अहम् भूमिका निभाते हुए अपने हाथ में नेतृत्व नहीं संभालेगा, तब तक जाति टस-से-मस नहीं

होगी। उन्हें एक जमात बनकर आगे आना ही होगा। यहाँ तक कि सम-विचार वालों के साथ-साथ मोर्चे कायम करने होंगे। खुद अपने जाति-सूचक शब्दों व गिरोहों में बंटे समाज को दलित की व्यापक संज्ञा के तहत एकजुट करना होगा और बहुजन के छाते का विस्तार करना होगा। यह तो हुआ हमारा सकारात्मक ढंग व तौर-तरीका।

विडम्बना यह है कि सकारात्मक तरीकों के साथ-साथ कुछ नकारात्मक कदम उठाए बिना भारतीय मानस बदलना और जाति-प्रथा तोड़ना कठिन है। जाति-प्रथा के क्रमानुसार कई जाति-स्तरो वाली जाति-सीढ़ी के हर ऊपरी डंडे पर, दूसरे के सर पर बैठे समाज या जाति का व्यक्ति खुद को श्रेष्ठ और दूसरे को हीन मानता है। यह श्रेष्ठता-बोध उसमें छद्म सम्मान और अहम् भरता है। इसी की तुष्टी के लिए वह जाति की सीढ़ी बरकरार रखना चाहता है, इसी कारण वह इसे आसानी से नहीं छोड़ पाता। जब तक वह शिक्षा व चेतना के माध्यम से इस प्रथा से घृणा नहीं करने लगेगा, तब तक संभवतः वह इसे नहीं छोड़ पाएगा। दरअसल श्रेष्ठता-बोध से उसका। सुविधाएं मिलने का स्वार्थ भी जुड़ा होता है। दूसरा रास्ता है कि उसे मानवीय आचरण करने को बाध्य किया जाय।

उसे उसका अहम् तोड़कर सबसे बड़ा धक्का पहुँचाया जा सकता है। उसका यह अहम् पीड़ित पक्ष को शिक्षा-रोजगार-सम्मान व प्रतिष्ठा के स्तर पर ऊपर वाले डण्डों पर बैठे समाज के समकक्ष व समान बना कर तोड़ा जा सकता है। इसी को ज़मीनी रूप देने के लिए शिक्षा में प्रवेश के आरक्षण का कानून बनाया गया है, जिसका इतना कड़ा विरोध हो रहा है। यह तथ्य तो प्रमाणित ही है कि आज तक दलितों में जो भी शिक्षा व चेतना आई है, वह आरक्षण लागू करने के चलते ही आई है। इसलिए यदि सरकार व समाज तय कर ले, तो उस अल्पसंख्यक उच्च वर्ग और वर्ण से उसकी सुविधाएं छीन कर, उसे उनके उच्च-जातीय व वर्गीय स्तम्भों से नीचे उतार, ज़मीन पर खड़ा करके उन्हें उनकी वास्तविकता का अहसास करवाया जा सकता है।

इसके लिए पीड़ित पक्ष के सामूहिक हस्तक्षेप की ज़रूरत है, जिसे सरकार और समाज का समर्थन मिले। साथ ही कानूनों का सख्ती से पालन करने की भी ज़रूरत है जो नहीं होता।

सिर पर मल-मूत्र ढोने वाले दलित समाज का ही दृष्टांत लें। भारत के लिए यह शर्म का प्रश्न है कि आज भी मनुष्य का मैला मनुष्य अपने सिर पर ढोता है। भले उसे रोकने के कानून बनाए गए हैं पर आज तक वे लागू नहीं किए गए। सुप्रीम कोर्ट का फैसला भी आ चुका है कि सर पर मल-मूत्र ढुलवाना अपराध है पर कितनों को सजा मिली है आज तक इस अपराध के लिए। मैला ढोने वाला दलित समाज इस जाति-प्रथा के सबसे निचले डण्डे पर बैठा है। सच तो यह है कि वह अन्तिम डण्डे के भी नीचे धरती पर लेटा है और उसकी छाती पर ही जाति की यह सीढ़ी खड़ी है।

वह अगर खड़ा हो जाए तो पूरी की पूरी जाति-सीढ़ी उलट सकती है!

यदि यह समाज मलमूत्र उठाना बंद कर दे और सरकार सख्ती से ऐसा काम करवाने वाले को दण्डित करने लगे और समाज को अपना मल-मूत्र खुद उठाना पड़े तो बहुत हद तक धरती पर पड़े इस दलित वर्ग के मन में भी मनुष्य होने का अहसास जगेगा और सवर्ण समाज में खौफ फैलेगा। जिस दिन वह हीन भावना से मुक्त हो जाएगा, उसी दिन उच्च श्रेष्ठ-समाज अपने ऊँचे डण्डे से नीचे उतर कर ज़मीन पर उसके बराबर खड़ा होने को मजबूर हो जाएगा। दोनों कुछ अरसे तक एक-दूसरे के खतरनाक शत्रु हो सकते हैं (अभी तो केवल सवर्ण ही शत्रुवत व्यवहार करते हैं), मगर उन्हें एक दिन तो एक-दूसरे में समायोजित करना ही होगा।

आज तक किसी दल या समाज ने इस मुद्दे को अपने दल का मुख्य एजेंडा नहीं बनाया।

इस शर्म से मुक्ति दिलाने की बात सभी करते हैं लेकिन आज तक कोर्ट के फैसले को लागू करने के लिए भारत का कोई भी राज्य आगे नहीं आया।

एक मुहिम एक अभियान 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' की तर्ज पर 'मल-मूत्र उठाना बंद करो' की हाँक लगाते हुए मल-मूत्र ढोने का काम बंद करा दिया जाए तो बहुत से लोगों का दिमाग ठिकाने आ जाएगा। जिन शहरों में सर्विस लेट्रिन है, भले वहाँ कम असर पड़े, पर गाँव में छोटे कस्बों में और बाकी शहरों में यह कदम बहुत कारगर होगा। यह कदम बड़े शहर वालों के मन को भी झिझोड़ कर रख देगा। इस कदम का आतंक ही शहर वालों को सुधरने को मजबूर कर सकता है। कहने को लोग कहेंगे कि इससे समाज में कटुता बढ़ेगी पर अब विश्व स्तर पर जो शर्म सारे देश को झेलनी पड़ रही है, उसकी तुलना में कटुता की कोई भी बात नगण्य है।

मैं एक उदाहरण देना चाहूँगी टाटा कम्पनी ऐसे तो अनुशासन के लिए व मजदूरों को दूसरे निजी क्षेत्र से अधिक पैसा देने के लिए जानी जाती है लेकिन मजदूरों का शोषण ठेकेदारों के माध्यम से कराने में भी उसका कोई सानी नहीं है। झारखण्ड के हजारीबाग जिला में उनकी एक कोयला खदान घाटोटांड में है, जहाँ उन्होंने मजदूरों के लिए अच्छे-बुरे सभी तरह के घर तो बनाए लेकिन मजदूरों के घरों की सफाई-व्यवस्था ठेकेदारों को सौंप दी थी। यह ठेकेदार सफाई करने की बजाय गन्दगी जमा करने में ज्यादा रुचि रखते थे और महीनों तक गंदगी जमा होते-होते कॉलोनियों में गंदगी का अंबार लग जाता था। कभी-कभार कम्पनी या ठेकेदार के एक-दो स्वीपर आते थे और ऊपर से झाड़-पोछ कर देते थे क्योंकि उन्हें गंदगी ले जाने के नये-पुराने ढंग के कोई साधन उपलब्ध नहीं कराए गए थे। वे स्वीपर भी हमारी यूनियन के सदस्य थे और बराबर माँग करते थे कि उन्हें उपकरण उपलब्ध कराए जाएं और उनकी संख्या बढ़ाई जाए। कोलियरी का एजेंट जो आलीशान बंगले में रहता था, ने कभी मजदूर कालोनी में जाकर मजदूरों की त्रासदी समझने की चेष्टा

नहीं की थी, न ही वह मजदूरों की शिकायत पर गौर करता था। तब हम लोगों ने योजना बनायी और तय किया कि जितनी गंदगी जमा है, उसे सभी मजदूर टोकरी, बाल्टी, झोड़ा, तसला जो भी मिले, उसमें 'बोझ कर' (भर कर) एजेंट के बंगले में ले जाकर डाल देंगे। कूड़ा उठाकर मैं सबसे आगे चलूँगी चूँकि उन दिनों उस कोलियरी में अंडर-ग्राउंड होने की वजह से कोई स्थायी 'स्त्री मजदूर' नहीं थी। यह भी तय हुआ कि उन सब मजदूरों की पत्नियाँ भी कूड़ा ढोते हुए मेरे साथ चलेंगी। यह सारी योजना गुप्त रखी गई और एक दिन, दिन में ही जाकर सैकड़ों की संख्या में मजदूरों ने एजेंट के घर में कूड़ा फेंकना शुरू कर दिया। पुलिस आयी। दोनों तरफ से आरोप लगे पर किसी की गिरफ्तारी नहीं हुई चूँकि मालिक कठघरे में थे और कोई कड़ा कदम उठाने पर हड़ताल हो सकती थी। पुलिस स्वयं भी गंदगी से परेशान थी। उनका स्टाफ भी उन्हीं कॉलोनियों के किसी क्वार्टर में रहता था। सो, झक मारकर समाधान निकल आया, गंदगी साफ ही नहीं करा दी गई बल्कि सफाई के नये उपकरण भी आ गए और कुछ बहाली भी हो गई।

मैं यह दृष्टांत इसलिए भी दे रही हूँ कि जब कुछ हासिल करने के लिए कोई ठान ले तो वह प्रायः उसे प्राप्त कर ही लेता। इसलिए यदि पीड़ित वर्ग और जागरूक समाज ठान ले, तो यह घृणित प्रथा खत्म की जा सकती है। सरकार में बैठे वे लोग जो इस प्रथा को खत्म करने वाले कानूनों को लागू करने में बाधक हैं या तो कानून लागू करेंगे या जनता के दबाव के आगे उन्हें अपने पदों से हटना होगा।

दूसरा दृष्टांत दक्षिण में शराब के खिलाफ छेड़े गए स्त्री आंदोलन का है, जहाँ वे स्त्रियाँ शराब की भट्टियों को हटाने के साथ-साथ अपने शराबी पतियों की आदत छुड़ाने में कामयाब हुईं।

हम स्वयं ही अंधविश्वासों, धार्मिक कट्टरता, राजशाही, फासीवादी तानाशाही रुझान, वर्चस्ववादी सामंती और मुनाफाखोर पूँजीपति प्रथा के पोषक रहते हुए, इन सब कुप्रवृत्तियों और प्रभावों से कैसे छुटकारा पा सकते हैं? व्यक्ति और समाज के स्तर पर मुहिम चलाए बिना कुछ हासिल नहीं हो सकता! So, let's start! चलो शुरू करें अपने ही घर से, अपनी ही जमात से, अपने ही समाज से चूँकि Charity begin's at home.

## आओ, साथ-साथ उड़ने की होड़ लगाएँ

मैं एक ऐसे मुद्दे पर ध्यान दिलाना चाहती हूँ, जो उस जमात के लिए ज़रूरी है, जिन्हें आरक्षण चाहिए और जिन्हें आरक्षण से भी ज्यादा अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता की और उन्हें पाने के लिए एकता की ज़रूरत है? पिछले दिनों देहरादून में 'मंथन' नामक संगोष्ठी में 'दलित कहानी : विगत, वर्तमान और भविष्य' नामक विषय पर बहस हुई, जिसे एक बड़े सरकारी दलित अधिकारी ने तन-मन-धन लगाकर आयोजित किया। इस गोष्ठी में दिल्ली के बहुत से वक्ता गये। दर्जन भर वक्ताओं के नाम आमंत्रण-पत्र और बैनर पर भी छपे थे। आमंत्रण-पत्र में नाम न होने के बावजूद वरिष्ठ दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि भी गोष्ठी में आए। आमंत्रण-पत्र पर उनका नाम न होना निश्चित रूप से प्रिंट की भूल नहीं थी। या तो यह दृष्टिकोण और समझ की भूल थी अथवा दलितों में व्याप्त गुटबाजी या श्रेष्ठता की होड़ की। मतभेद जब मनभेद बन जाता है, तो ऐसी भूलें हुआ करती हैं, जो बहुत घातक होती हैं। दरबारी या सरकारी भाषा में कहूँ या कहूँ राजसी या राजा अथवा पूँजी की भाषा में तो ऐसी भूलों को लोग प्रायः 'साजिश' कहा करते हैं। किसी भी आंदोलन के लिए ऐसी भूल, जो दुश्मनों को गलत संदेश दे जाए, क्षम्य नहीं होती। दबाव में या भीतरी या बाहरी मित्रों के प्रभाव में ऐसी भूलों की भरपाई की जाती है और यहाँ भी दोनों तरफ से भरपाई की गई। इसके बावजूद इसका लाभ तो वे लोग उठाते ही रहेंगे न जो आंदोलन को तोड़ना या बाँटना चाहते हैं। मैं देहरादून के कार्यक्रम की इस भूल को साजिश की संज्ञा नहीं दूँगी, इसे भूल तक ही सीमित रखना चाहूँगी चूँकि भूल करने वाले अति उत्साही थे। ऐसे यह गोष्ठी बहुत कामयाब रही उसमें खटास तो ज़रूर उभरी लेकिन उस खटास से दूध फटने से बच गया। वह दहीनुमा कुछ पदार्थ या व्यंजन बन गया था। मेरा आयोजकों, दलित चिंतकों और लेखकों से अनुरोध है कि वे दूध में उतनी दूर तक ही खटास का जोरन दें कि वह फटे नहीं, दही बन जाए। बहसों, आलोचना, दलित-साहित्य के माध्यम से दलित-चेतना को पुष्ट करने, समृद्ध करने के लिए हों, मित्रता या शत्रुता निभाने के लिए नहीं। एक बात और! दलित साहित्य के वरिष्ठ लेखक, उभरते हुए युवा दलित लेखकों के लिए सुरक्षा का छाता बनें, बरगद का गाछ नहीं कि उनके नीचे कुछ उगे ही नहीं। अति उत्साही युवा लेखक, जो दलित साहित्य में उभर रहे हैं, को भी वरिष्ठ लेखकों को छोटा दिखाकर खुद को उनसे बड़ा सिद्ध करने की चेष्टा छोड़ कर वरिष्ठ को वरिष्ठ का आदर देना ज़रूरी है। यदि वे पाठकों पर यह निर्णय छोड़ दें कि कौन रचना उत्कृष्ट है या कौन लेखक श्रेष्ठ, तो दलित



साहित्य कई योजन नाप लेगा। ऐसे दलित साहित्य श्रेष्ठ बनने के लिए नहीं लिखा जाता। यह चोट भी करता है, दिशा भी देता है, भले ही आनन्द न दे पर जगा ज़रूर देता है। आपकी कृतियों (दलित साहित्यकारों की) ने कितनों को चौंकाया, कितनों को जगाया, कितने निकल पड़े परिवर्तन की राह पर, कितने समझ पाए कि हम हरिजन नहीं दलित हैं, हम गुलाम नहीं मनुष्य हैं या कितने सवर्णों में सद्बुद्धि जगी वे देवता नहीं मनुष्य हैं या कि उनके पुरखे कितने बर्बर थे, असभ्य थे, जिन्होंने मनुष्य को अस्पृश्य ठहराया, मनुष्यता के अधिकारों से वंचित किया या गुलाम बनाया। यही सब तो सिद्ध करेगा कि आपकी रचना कितनी श्रेष्ठ है? आपकी भाषा कितनी भी सुंदर हो, शैली-कितनी भी अद्भुत हो यदि वह संप्रेषणीय न हो, स्पष्ट न हो तो लोग आपके शब्दों में उलझ जाएंगे या अर्थ खोजते रहेंगे पर नहीं समझ पाएंगे कि आपने क्या कहा, किधर जाना है, कौन रास्ता है। अभिधा और व्यंग्य तो बता देगा लेकिन भाषा का कौतुक अथवा तिलिस्म अभी तक बुद्धिजीवियों तक ही सीमित है, जो जल्दी बदला नहीं करते। हर बुद्धिजीवी स्वयं को श्रेष्ठ समझता है और अपने अहम के स्तम्भ पर बैठकर नीचे की तरफ देखता रहता है। ऊपर देखने से वह कतराता है या डरता है कि कहीं कोई उससे ऊँचे न बैठा हो।

चिड़िया जो आकाश में उड़ चुकी है उड़ने की तैयारी कर रहे चिड़िया के बच्चों को प्रोत्साहित करे 'उड़ो-उड़ो, देखो ऐसे उड़ा जाता है! आओ मैं तुम्हारी इंतजार में हूँ कि हम, सब एक साथ उड़ें।' वे यह नहीं कहें कि 'धत् तुम्हें उड़ना ही नहीं आता। हटो दूर हटो।' चिड़िया के वे बच्चे उड़ने की कोशिश ज़रूर करें और उड़ रही चिड़िया से सबक लें कि कैसे ऊँचा और ऊँचा उड़ा जाता है न कि वे हवा या आँधी के सहारे उस तक पहुँचने की ये आकांक्षा पालें कि उस चिड़िया से कह सकें कि देखो कितनी जल्दी तुम तक पहुँच गये हैं। चिड़िया के वे बच्चे शायद यह नहीं समझते कि हवा और आँधी के सहारे उड़े तिनके फिर धरती पर आ गिरा करते हैं। किसी नाले, गड्ढे में गिर जाते हैं कि पता ही नहीं चलता कहाँ गये। अपनी कृतियों के पंखों और डैनों के बल पर ऊँचे आकाश में उड़ने वाली चिड़िया आँधी और हवा के धक्के भी पार कर जाती है और लोग दूर आकाश में ऊंगली उठाकर कहते हैं 'अरे देखो वह चिड़िया कितना ऊँचा उड़ रही है। तूफानों से टकराकर वह गिरती भी है, तो भी उसका उड़ना और गिरना दोनों याद रखा जाता है। कहने का तो बहुत मन था पर खैर 'ऊँची उड़ानें भरो' इसलिए भरो कि सबको साथ चलना है! किसी को किसी से ऊपर उठकर या आगे बढ़कर, उसे हीनता का एहसास नहीं कराना। बाबा साहेब ने कहा था 'हीनता छोड़ो स्वाभिमान पैदा करो' तो आओ स्वाभिमान की उड़ान उड़ें, दूसरों में हीनताबोध पैदा न करें।

## समय, सवाल और सरोकार

अभी हम इमराना को दिए गए मौलवियों के फतवे से तो उबर ही नहीं पा रहे थे कि जाटों की जमात ने जाति पंचायत सभा करके गोहना कांड का फरमान लागू कर दिया। देश में चलने वाली न्यायपालिका के समानांतर चलने वाली इन पंचायतों, जातीय सभाओं के फरमानों, फतवों पर रोक नहीं लगेगी तो न्यायपालिका और देश का संविधान दोनों निरर्थक हो जाएंगे। गोहना और इमराना इसके साक्षात् उदाहरण हैं।

हाल ही में रांची हाइकोर्ट ने झारखंड के आदिवासियों के खिलाफ देश के संविधान को दरकिनार करके फैसला सुनाया है। यह वही न्यायपालिका है, जिसे भंवरी देवी का बलात्कार नज़र ही नहीं आया था जिसे रूपकुँवर को जबरन चिता पर बैठाकर शंख, घड़ियालों के शोर और नारियल की चोट से बेहोश करके जलाने वाले नज़र ही नहीं आए थे। आज इस न्यायपालिका ने पंचायत चुनाव के 'पेसा' अधिनियम के तहत प्रदत्त अधिकार को खारिज़ कर दिया। उसने संविधान में प्रदत्त पांचवी अनुसूची को भी ताक पर रख दिया। आज पूरा झारखंड सामाजिक वैमनस्य की आग में जल रहा है, जिसकी जिम्मेवारी हमारे देश की गैर-आदिवासी जनता, साधारण जनता, सरकार और न्यायपालिका का संवेदनहीन होना है। दरअसल मैदानी इलाके के गैर-आदिवासी लोग आदिवासियों की समस्याओं को न तो समझते हैं और न ही समझना चाहते हैं। उनकी समस्याओं का समाधान करने की कोशिश भी नहीं की गई वरन् इतनी बड़ी जमात के लोग अपने ही घर में परदेसी होकर, विस्थापित बनकर दूसरे प्रदेशों में पलायन न करते और अपने जल, जंगल, जमीन के अधिकारों, संस्कृति और भाषा एवं अपने ही संवैधानिक अधिकारों से वंचित किये जाने वाली जमात नहीं बनते।

न्यायपालिका पहले भी संसद को चुनौती दे चुकी है और उसने आरक्षण के विरुद्ध फैसला लिया है ताकि धनिकों के बच्चों को उच्चशिक्षा का लाभ मिल सके और दलित आदिवासी बच्चे उससे वंचित रह जाएं। रांची उच्च न्यायालय भूरिया कमिटी के फैसले को निरस्त करता है और डॉ. अंबेडकर और नेहरु द्वारा बनाए गए संविधान को चुनौती देता है। सुप्रीम कोर्ट इस पर कार्यवाही करे तो राहत मिल सकती है अन्यथा यूपीए की सरकार को ही हस्तक्षेप कर ऐसे कानून के प्रावधानों को सुरक्षित करते हुए झारखंड में चुनाव करने के लिए कोई फैसला लेना होगा और

ये फैसला जल्दी लेना होगा ताकि भारत फिजी न बन जाए और वहां के आदिवासी युवा स्पेट का तेवर अख्तियार न कर लें।

स्त्री आरक्षण बिल इस बार फिर संसद में नहीं आ सका। बहाना था सभी राजनीतिक दलों की आम सहमति न होना। यदि अपने मूल रूप में सरकार इसको संसद में ले आती तो परख तो कम से कम हो ही जाती कि कौन स्त्रियों के पक्षधर हैं और कौन स्त्रियों के खिलाफ। हार जाने पर भी सरकार की नीयत पर शक नहीं होता। दरअसल हर राजनैतिक दल के अधिकतर पुरुष सदस्य इसके खिलाफ हैं और तुरां ये कि वे स्त्री के नाम पर ही इसको स्थगित कराते हैं। अमुक जाति की स्त्रियाँ, अमुक वर्ग की स्त्रियाँ, अमुक धर्म की स्त्रियाँ...। इसी के लिए हाय-तौबा मचाते हैं और 'स्त्री' को भूल जाते हैं, केवल उसकी जाति एवं धर्म याद रखते हैं। दलित-आदिवासी स्त्री कोटे की बात तो कुछ हद तक समझ में आती है, चूँकि वहाँ पुरुषों के लिए भी आरक्षण है लेकिन उसके ऊपर पिछड़े और धर्म के आरक्षण की बात करना तर्कसंगत नहीं है चूँकि उसमें पुरुषों को भी आरक्षण प्राप्त नहीं है। पहले स्त्री के लिंग के आधार पर तो आरक्षण हो, उसके बाद ज़रूरत के अनुसार आरक्षण का दायरा बढ़ाने का संशोधन लाकर, जाति और धर्म के कारण वंचितों और शोषितों को लाभ पहुंचाया जा सकता है।

एक बात कई दिनों से मन ही मन मुझे घेर रही है। आज मैं उसे कहना चाह रही हूँ ताकि इस पर आप सब अपने विचारों से हमें अवगत कराएँ। अगर मेरा यह विचार या सुझाव उचित लगे तो इसके विस्तार में योगदान दें। दलितों के मामले में कई बार बहस होती है। यह कहा जा रहा है कि भारत में व्याप्त जाति प्रथा एक दिन में टूटने वाली नहीं है। आरक्षण की व्यवस्था इस उम्मीद से की गयी थी कि तिरस्कृत व वंचित जातियों को प्रतिष्ठा मिले, विशेष अवसर के माध्यम से बराबरी मिले, तब शायद जाति टूट जाए। नौकरी जाति के आधार पर ही मिलती है, आरक्षण ही चूँकि नौकरी का एकमात्र साधन बन गया इसलिए जातियों का सबलीकरण भी शुरू हो गया है, चूँकि होड़ रोजगार के लिए है। लोगों ने ये व्यवहारिक तरीका अपना लिया है। इसलिए मैंने एक उपाय सुझाया था कि कम से कम दलितों और आदिवासियों के भीतर की जातियाँ तोड़ी जाएँ ताकि वे संगठित होकर सवर्ण सामंती व्यवस्था का मुकाबला कर सकें। उनके प्रमाणपत्र जाति के नाम पर न बनाकर दलित या आदिवासी इन्हीं दो श्रेणियों में रखे जाएँ। इससे जातियों के नाम पर उनके भीतर जो फांके हैं, उसे मिटाने में सहायता मिल सकती है। सभी अनुसूचित जातियों और जनजातियों को दलित या आदिवासी कहकर ही सूचीबद्ध किया जाए ताकि ये एक जमात बन सकें और दलित समाज जाति के कोढ़ से छुटकारा पा सकें। उनका आदिवासी या दलित होना ही उनके आरक्षण का आधार हो न कि चमार-दुसाध या भंगी होना।

एक और सुझाव, खासकर आदिवासियों के बारे में यह है कि जनगणना के फार्मों में धर्म के खाने में केवल चार-पाँच धर्म ही मान्य हैं—हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन या बौद्ध। जो इन धर्मों के नहीं हैं, जैसे कि आदिवासी, उन्हें कहाँ रखा जाए? उनकी अपनी जीवनशैली सरना है जो अलग से दर्ज नहीं की जाती। उन्हें हिन्दू की श्रेणी में दर्ज कर दिया जाता है, जबकि उनकी अपनी 'सरना' शैली धर्म के खाने में दर्ज की जानी चाहिए। उन्हें हिन्दू या किसी अन्य धर्म में दर्ज करना बंद हो जाना चाहिए।

एक दिन हम लोग उदितराज जी के यहाँ बैठे थे। वहाँ ये चर्चा चली कि हमारे भारत के बुद्धिजीवी, मनीषी, चिंतक या तो पश्चिम से प्रभावित होकर पश्चिम को उद्धृत कर कुछ लिखते या कहते हैं अथवा अपने पुराने धर्मशास्त्रों को ही बार-बार दोहराते हुए अपने पूरे दर्शन और सोच को शिवलिंग के गिर्द घूमने वाले चूहे की तरह या कोल्हू के बैल की तरह आँखों पर पट्टी बाँधे शास्त्रों के गिर्द घुमाते रहते हैं। कोई नयी बात नहीं कहते वे। बड़े-बड़े अकादमिक विद्वान जब लेख लिखते हैं तो वे दूसरों के जितने ज्यादा उद्धरण देते हैं, उतने ही ज्यादा विद्वान माने जाते हैं। कभी-कभी तो लगता है कि वह लेख नहीं बल्कि संपादित उद्धरण ही हैं। कुछ मूल सोच भी होनी चाहिए। जो दो चार लोग कभी-कभार मूल सोच को प्रस्तुत करते हैं वे या तो दरकिनार कर दिए जाते हैं या खलनायक बना दिए जाते हैं। बुद्धिजीवियों के इस रुझान पर राजेन्द्र यादव जी भी कई बार लिख चुके हैं, बोल चुके हैं। बिहार जनवादी लेखक संघ के पूर्व सचिव चंद्रभूषण तिवारी जी ने मेरे संपादकियों और लेखों को पढ़कर एक बार कहा था कि “आप सिर्फ अपनी ही बात अपने ही ढंग से तर्क दे कर कहती या लिखती हैं! क्या आप दूसरों को पढ़ती नहीं हैं कि किसी को उद्धृत कर सकें?” मुझे उन्हें यही कहना पड़ा कि मैं जो मैं सोचती हूँ वही बात कहती हूँ और मैं अपने ही तर्क से उसे सिद्ध भी करना चाहती हूँ। दूसरों के उद्धरण देकर यदि मैं अपनी बात को पुष्ट करती हूँ तो वह मेरी बात या सोच कैसे होगी? वह तो उनकी सोच की पुष्टि होगी, जिनको मैं उद्धृत करूँगी। अनुभवों को उद्धृत किया जा सकता पर जब सैद्धांतिक और दर्शन निर्माण की बात हो और जब हम कोई नई बात कहना चाहें तो हमें अपनी ही बात तर्क के साथ कहनी चाहिए। भले दूसरे लोग हमारी बातों की तलाश किसी दर्शन में करें और नकारें या स्वीकारें। दूसरों के बारे लिखते समय मैं उन्हें उद्धृत करना ज्यादा उचित समझती हूँ।

मेरे ख्याल में इस विषय पर एक बहस चलनी चाहिए कि लोगों के बीच नई सोच और नये विचार लेकर कैसे आया जाये। ऐसे उद्धरण-मुक्त लेखों का हम स्वागत करेंगे चाहे वे। किसी भी विषय पर हों, दलित, स्त्री, समाजवाद, पूँजीवाद जैसे किसी भी विषय पर। हमें आगे किस दिशा में चलना है, लोग प्रस्तुत करें। टुकड़ों-टुकड़ों में ही सही पर लोग बात तो कहें, दोहराएँ नहीं। यदि दोहराएँ भी तो कुछ उसमें नया भी जोड़ें। दो दूनी चार के रट्टे नहीं लगाएँ। 'पानी' की दो-दो बूँद

मिलकर चार नहीं एक हो जाती हैं, कभी इस दिशा में भी सोचें।

सरकार द्वारा इस बार संसद के सत्र में दो-तीन महत्वपूर्ण फैसले लिए गए, जो स्वागत योग्य हैं चूंकि वे आम आदमी से जुड़े हैं, बशर्ते वे सही तरीके से लागू किए जाएं। भले वामपंथियों के दबाव में ही सही चिर-प्रतीक्षित रोजगार गारंटी योजना को पारित किया गया। हालाँकि यह अभी 200 ज़िलों में ही लागू हो रही है, जबकि पूरे देश में लागू होनी चाहिए थी। फिर भी देर आए दुरूस्त आए। इससे एकदम गरीबी तो खत्म नहीं होगी लेकिन गरीबी उन्मूलन और बेरोजगारी घटाने की तरफ ये एक सुदृढ़ कदम है।

सरकार ने दूसरा कानून महिलाओं के प्रति की जाने वाली हिंसा विशेषकर घरेलू हिंसा के खिलाफ पारित किया है। स्त्रियों के प्रति घरेलू हिंसा के खिलाफ कानून हिंसक पुरुषों के मन में जहाँ एक तरफ भय भरेगा, वहीं औरतों में एक विश्वास भरेगा कि देश में ऐसा एक कानून है, जो उनकी रक्षा कर सकता है। यह कानून एक सुरक्षा कवच का काम कर सकता है। इसके लिए ज़रूरी होगा कि औरत जमात इस सुरक्षा कवच की शक्ति को जाने और उसका इस्तेमाल करने का साहस दिखाए। उसे लागू कराने के लिए सामुदायिक और सामाजिक तौर पर स्त्री के पास संगठन या संस्था की शक्ति का होना भी ज़रूरी है, ताकि प्रतिकूल परिस्थितियों में किसी पारिवारिक दबाव के आगे उसे आत्मसमर्पण न करना पड़े।

सरकार ने एक और निर्णय लिया है बेटियों को पैतृक संपत्ति में हिस्सेदारी का। यह भी एक चिरवांछित कानून था। हिन्दू कोड बिल के सवाल पर डॉ. अम्बेडकर ने कांग्रेस सरकार से इस्तीफा दिया था। डॉ. अम्बेडकर चाहते थे, औरतों के अधिकारों की रक्षा करना और उसका दायरा बढ़ाना। उस समय नेहरू नहीं माने थे। देर से सही, भले यू.पी.ए. सरकार के दूसरे दलों के दबाव में ही सही पर इस बार यह कानून पास करके कांग्रेस ने स्त्री-विरोधी होने का धब्बा मिटाने की कोशिश की है।

मूलभूत तथा नवरत्न उद्योगों को भी विदेशी निवेश से बाहर रखने का निर्णय सरकार ने किया है। यदि वामपंथियों का दबाव नहीं होता तो संभवतः यू.पी.ए. सरकार ये फैसला न लेती। हालाँकि ऐसे कई उद्योग हैं, जहाँ यू.पी.ए. सरकार निवेश का फैसला कर चुकी है, जो सचमुच देश के लिए घातक है, पर साझा सरकारों में सही फैसले करवाने के लिए दबाव की दरकार होती है, अन्यथा मुख्यपार्टी निरंकुश हो जाती है। कांग्रेस की तो निरंकुश होने की पुरानी आदत है। अब वामपंथी महावत का अंकुश सत्ता के इस निरंकुश हाथी को कितना काबू कर पाएगा, ये तो समय ही बताएगा।

## श्रम की महत्ता

इधर हाल ही में जाति और पेशों को लेकर दलित आन्दोलन में भी काफी बहस चल रही है। दलितों का एक वर्ग डॉ. अम्बेडकर द्वारा अपनाई गई जाति-प्रथा की नीति तथा उनके बौद्ध धर्म में धर्मान्तरित होने को लेकर भी प्रश्न उठाने लगे हैं। वे बुद्ध को अपना पथ-प्रदर्शक मानने को भी तैयार नहीं है। वे श्रम और श्रमण संस्कृति के बारे में भी काफी भ्रमित (Confused) नज़र आते हैं। वहाँ जाति-तोड़ो बनाम जाति उन्नयन अथवा जाति मजबूत करो बहस भी शुरू हो गई है जो चिन्ता का विषय है।

अपने संदर्भ में 'श्रम की महत्ता' पर भी वे सशक्त हो उठते हैं जैसे कि यह उन्हें उनके पुराने गन्दे व गलीज पेशों में ढकेलने की साज़िश हो, जबकि श्रम की महत्ता का किसी प्रकार के किसी ऐसे पेशे से जो अमानवीय हो, कोई रिश्ता नहीं होता। दरअसल भारत में मानव जो कायिक श्रम (Manual Labour) करता है उसे कमतर माना जाता है और ऐसा ब्राह्मणी व्यवस्था के कारण है। कोई भी पेशा छोटा या बड़ा नहीं होता, न ही उसे करने वाला छोटा या बड़ा होता है। उत्पादन के लिए जिन पेशों की भी दरकार हो, वे तो लोग करते ही हैं लेकिन उन पेशों को किसी खास वर्ग समाज या व्यक्तियों के लिए सीमित कर देना और उन्हें छोटा या बड़ा करार कर देना, मानवीय विकृति और साज़िश की द्योतक है। यह साज़िश भारत में हिन्दू धर्म के ब्राह्मण पुरोधियों ने रची थी। दुर्भाग्य तो यह है कि दलित समाज, जो इस साज़िश का शिकार हुआ पेशों के इस दायरे को तोड़ने की बजाय अथवा पेशों के इस ऊँचे-नीचे स्तर को मिटाने की बजाय, खुद भी पेशों को छोटा-बड़ा मानने लगा। यह जगजाहिर है कि श्रम केवल उत्पादनकर्ता जमात ही करती है। इस पूरी-की-पूरी जमात और उसके पेशों को छोटा या नीच कह कर ब्राह्मणवादी सोच ने श्रम का अपमान तो किया ही है, साथ ही मनुष्य को वर्गों और वर्णों में भी बांट दिया है। इसलिए अजय नावरिया जैसे पढ़े-लिखे विद्वान् युवा यह सन्देह करने लगते हैं कि श्रम की महत्ता को प्रतिपादित करने के पीछे कहीं दलितों को उनके पुराने पुश्तैनी पेशों में लौट जाने की मंशा तो नहीं।

दरअसल भारत की जातिप्रथा भी पेशों से उतना नहीं जुड़ी, जितना जन्म से जुड़ी है। बाटा भी जूता बनाता है, उसे अछूत नहीं माना जाता। ब्राह्मण मर्द या औरत कपड़े धोता है, उन्हें धोबी नहीं कहा जाता लेकिन जन्म के कारण धोबी के घर में जन्मे व्यक्ति

को चाहे वह धोबी का काम छोड़ भी चुका हो धोबी मान कर अछूत करार दिया जाता है। पेशे छोटे-बड़े नहीं होते पर ब्राह्मणवाद और सामन्ती मानसिकता ने उन्हें छोटा-बड़ा बना दिया है। इसीलिए बाबा साहब ने सदैव जाति वह भी जन्मना जाति की हदबन्दी तोड़ने की बात कही है, जिससे पेशों की हदबंदियां स्वतः समाप्त हो जाएंगी।

दरअसल अधिकतर लोग श्रम की अथवा उसकी महत्ता की परिभाषा को लेकर दिग्भ्रमित हैं, इसलिए ज़रूरी है श्रम की परिभाषा समझना। श्रम का परिणाम होता है उत्पादन और उत्पादन पर ही देश का विकास निर्भर होता है। विश्व मोटा-मोटी दो जमातों में विभाजित है एक श्रमिक वर्ग दूसरा सामन्त या पूँजीपति वर्ग। पूँजीपति या सामन्त वर्ग अल्पसंख्यक होता है जो श्रम का शोषण करके समृद्ध बनता है। वह स्वयं उत्पादन न करके उत्पादन से जुड़े लोगों के 'अतिरिक्त श्रम' पर लाभ कमाता है। ठीक इसके विपरित श्रम करने वाला समूह उत्पादन से जुड़ा होता है और उसका दायरा समाज के बड़े हिस्से को समेटे होता है। यह वर्ग दो भागों में बंटा है एक सफेदपोश (White Collord) यानी बुद्धिजीवी एवं बौद्धिक जमात, दूसरी कायिक (Blue Collord) यानी श्रम करने वाली मेहनतकश मजदूर जमात। जो लोग सृजन करते हैं, वे बौद्धिक जमात में आते हैं। सृजन और श्रम का अन्तर यह है कि श्रम में पुनरावृत्ति होती है जबकि सृजन में पुनरावृत्ति नहीं होती। सृजन का उत्पादन अपूर्व, विरल और वैविध्यपूर्ण होता है। वह एक समान भी नहीं होता। सृजनकर्ता अपने को दूसरों से भिन्न भी मानता रहता है और उसे अपने ज्ञान का दंभ भी होता है। कभी-कभी तो उसका ज्ञान आमजन को अतंकित भी कर देता है। भारत में इसीलिए उच्च जातियों, विशेषकर ब्राह्मणों ने इस सृजनकर्म को अपने तई ही सीमित कर रखा था और इसीलिए उन्होंने बाकी सभी को पढ़ने से भी वंचित कर दिया था। ऐसे विश्व के अन्य देशों में भी साहित्य को श्रम नहीं माना जाता। हाँ, अमेरिका में ज़रूर लोग साहित्य को साहित्य कर्म कहने लगे हैं। आज कम्प्यूटर के युग में कम्प्यूटर विविध चित्र भी बना सकता है, जिनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। इसलिए सृजन भी अब श्रम की कैटेगरी में शामिल किया जा रहा है। यह केवल विकसित देशों में हो रहा है, विकासशील देशों में नहीं। विश्व के बाकी देशों में भारत की तरह श्रम को छोटा या बड़ा नहीं माना जाता। भारत में तो श्रम पर धार्मिक प्रतिबन्ध भी लगा हुआ है। बाबा साहेब अम्बेडकर ने इसे ही सामाजिक कलंक (Social Stigma) कहा है। विदेश में गोरे हों या काले, वे ऐप्रन पहनकर जब पाखाना साफ करके बाहर निकलते हैं, तो उनसे कोई घृणा नहीं करता, न ही उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है और न ही अछूत माना जाता है। भारत में तो हाथ के लगभग हर काम को (चित्रकारी या शिल्पकला छोड़कर चूँकि वह सृजन कार्य में आता है), सामाजिक दृष्टि से हेय या तुच्छ माना जाता है। यहाँ तो एक कुशल बड़ई, लोहार या टैक्सी ड्राइवर के काम को भी छोटा माना जाता है, जबकि क्यूबा में डाक्टर

व इंजीनियर अतिरिक्त कमाई के लिए पार्ट टाइम टैक्सी चालक का काम करने में शर्म महसूस नहीं करते। यही है दृष्टिकोण का फरक। इसे समझने पर ही श्रम का महत्त्व समझा जा सकता है।

बिहार में अस्सी के दशक में कर्पूरी ठाकुर जी के नेतृत्व में हुई दक्षिण से आए पेरियार समर्थक नेताओं की एक सभा में उनके भाषण का अनुवाद मैंने किया था। उन्होंने मेरे माध्यम से जनता से जो पूछा और जनता ने जो जबाब दिया वह निम्न है “यदि सब ब्राह्मण पूजा करना छोड़ दें तो क्या भारत के सब लोग मर जाएंगे?” जनता ने जबाब दिया “कोई नहीं मरेगा?” “यदि आप सभी हलवाहे ,जो दलित ही होते हैं हल चलाना छोड़ दें, तो क्या कोई जिन्दा बचेगा?” हजारों लोगों ने उत्तर दिया “कोई नहीं बचेगा?” उन्होंने फिर सवाल दागा “तो बड़ा कौन, दलित या ब्राह्मण?” हजारों कण्ठों से स्वर निकला “हम...हम..हम...!”

इसलिए पेशों में बड़प्पन या हीनता को मत खोजिए मेरे बन्धुओ! सभी पेशे जरूरी होते हैं। जरूरत है उनके प्रति दृष्टिकोण में बदलाव लाने की। दरअसल बड़े तो वे हैं जो अपनी मेहनत के बल पर पूरे देश को जिन्दा रखते हैं और वे मेहनतकश कायिक श्रमिक ही होते हैं। आप किताब लिखें या डाक्टर बनें अथवा इंजीनियर बहुत अच्छा है! लेकिन कायिक श्रम के पेशों को भी उतना ही सम्मान दें, जितना सफेदपोशों के लिए आपके मन में है। याद रखें सफेदपोशों के बिना कायिक श्रमिक जिन्दा रह सकते हैं लेकिन कायिक श्रमिकों के बिना सफेदपोशों का वर्चस्व ही खतरे में पड़ सकता है।

नावरिया जी का यह कहना कि सभी दलित, जो लेखक या डॉक्टर हैं, भी श्रम करते हैं। यह सही है लेकिन पेंच भी इसी में है। शारीरिक और बौद्धिक श्रम का विभेद ही तो श्रम को छोटा और बड़ा बनाता है। श्रमण संस्कृति श्रम का अनादर नहीं करती बल्कि उसे समानता का दर्जा देती है। यह कहने में दो राय नहीं होनी चाहिए कि भारतीय संस्कृति जिसमें अनेक दलित भी आस्था रखते हैं, इस विभेद को सही मानती है। यही है सफेदपोश यानी बुद्धिजीवी जैसे डॉक्टर, इंजीनियर, ऑफिसर, क्लर्क अथवा बौद्धिक यानी शिक्षक, लेखक, साहित्यकार, पत्रकार, वैज्ञानिक आदि कायिक (Blue Collar) मेहनतकश श्रमिकों का ‘फरक’, जिसे दलित वर्ग भी नकार नहीं पाया। यदि दलित सफेदपोश और दलित ब्यूकालर मेहनतकश मजदूर जमात जो 85% है, काम करने वाले को छोटा न मानकर बराबर का मानना शुरु कर दें, तो चन्द परजीवियों की वह निक्कमी जमात, जैसे पुरोहित, मुल्ला, मौलवी, पादरी, ग्रन्थी, महन्त, सूदखोर महाजन और जमींदार, जो दूसरों के शोषण की कमाई पर पलती है, खुद खटकर नहीं खाती, एक गाली का पर्याय बन जाएगी। तभी श्रम का महत्त्व होगा।

नावरिया जी की यह श्रम को महत्ता देने के प्रश्न पर इस आशंका का उठना कि



क्या दलित पढ़-लिख कर अपने पुराने पेशों पर लौट जाएं, दरअसल सदियों से उनके समाज को सवर्णों द्वारा सतत् छले जाने के कारण, उनके मन में बैठी हुई एक स्थायी शंका के चलते पैदा हुई है। इसीलिए उन्हें श्रम यानी शारीरिक श्रम को महत्त्व देने का अर्थ पुराने पेशों में लौटने के अर्थ में नज़र आता है। ऐसे भी सामन्ती व्यवस्था में कायिक श्रम हीन माना जाता है और दलितों ने उस हीनता को भोगा है। मनोवैज्ञानिक भी उस सामन्ती ढंग से सोचें तो वे इस अवधारण को गलत कहने की बजाय अपने या श्रम को ही हीन मानने लगे हैं। दलितों के पुराने पेशों में हल चलाना और खेतों में काम करना भी शामिल है। मालूम हो कि बिहार में हल चलाना केवल दलितों का ही पेशा है। उच्चजाति को तो हल छूने पर जातिच्युत कर दिया जाता है। दरअसल यह श्रम की अवमानना है। जब तक हल चलाना जातिच्युत होने या छोटी जाति होने का प्रतीक रहेगा, तब तक श्रम का महत्त्व स्थापित नहीं हो सकता और न ही समाज में समानता आएगी। आखिर कोई तो खेत जोतेगा? वरना खाएगा क्या? जियेंगे कैसे लोग? देश कैसे चलेगा? उन्हें यह तो ज्ञात ही है कि अधिकतर दलित या पिछड़ी जाति वाले ही हल चलाते हैं? सवर्ण नहीं। हल चलाने के कारण छोटा मानना कहाँ तक तर्कसंगत है?

इसलिए यह बात कह कर कि दलित लोग भी लिख-पढ़ रहे हैं या डॉक्टर और इंजीनियर बन गए हैं, वे भी मेहनत कर रहे हैं या मेहनतकश हैं श्रम की महत्ता साबित नहीं की जा सकती और यह इस प्रश्न का पर्याप्त उत्तर या समाधान भी नहीं है। जो लोग डॉक्टर या इंजीनियर बन गए, क्या वे अपने समाज के अनेकों हलवाहों या अन्य शारीरिक श्रम में लगे साथियों के काम को उतना ही सम्मानजनक मानते हैं, जितना कि अपने काम या पेशे को? यह तो निश्चित है कि सवर्ण समाज हाथ के किसी काम को सम्मानजनक नहीं मानता। उसके संस्कारों में ये कूट-कूट कर भर दिया गया है लेकिन दलित समाज को तो इस मानसिकता से मुक्त होना होगा। उसे तो डॉक्टर, इंजीनियर और कुदाल चलाने वाले में समानता का बोध करके उसे सम्मान की नजर से देखना होगा। मानसिक श्रम की ठेकेदारी ब्राह्मणों और उच्चजातियों ने ले रखी थी और शारीरिक श्रम उत्पादक जातियों के जिम्मे लगा कर उन्हें नीच करार दिया था। दरअसल देश तो उन जमातों और जातियों के बल पर ही विकसित होता है, इसके बावजूद इन्हें इज्जत से वंचित रखा गया। जब तक पूरा समाज, दलित/बहुजन समाज समेत, उत्पादक जमातों, जातियों और पेशों को, जो शारीरिक श्रम में कार्यरत हैं, इज्जत व सम्मान नहीं देगा तो भले उस समाज में कितने ही डॉक्टर, इंजीनियर, लेखक-सुपर लेखक, कवि-महाकवि, पीएचडी-डीलिटधारी, ठेकेदार, अफसर, लखपति या करोड़पति न बन जाएँ समाज में समानता नहीं आ सकती।

नावरिया जी का यह कहना कि समाज के सब लोगों से बराबर की अपेक्षा नहीं की जा सकती बायोलोजिकल दृष्टिकोण से भले सही हो लेकिन वे यह भी

जानते होंगे कि समानता बायोलोजिकल पलड़े पर ही तोली जाने वाली चीज़ नहीं है। समाज में असमानता लाने वाली एक पुख्ता मानसिकता के साथ पूरी-की-पूरी व्यवस्था है। जहाँ अमीरी, गरीबी आर्थिक स्तर पर लोगों को छोटा-बड़ा बनाती है, तो सामन्ती, ब्राह्मणी सोच से जातिवाद जन्मा। उपनिवेशवाद से पैदा हुई रंगभेद की मानसिकता। ये सारी मानसिकताएं विभेदकारी हैं और मनुष्य को एक दूसरे बटखरे पर तोल कर ऊँचा-नीचा बनाती रही हैं। इन व्यवस्थाओं ने मनुष्य को कहीं भाग्य से जोड़कर छोटा-बड़ा साबित करने की चेष्टा की, तो कहीं उनके जीन्स से वंश से जोड़कर, मनुष्य-मनुष्य में विभेद पैदा करने की साजिश रची। भाग्य या जीन्स के कारण श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ मानने वाले तो मनुष्य के विकास का रास्ता ही बन्द कर देते हैं। वे समृद्ध और ताकतवर लोगों के हाथ में सारी सत्ता सौंप कर उन्हें नियन्ता बना देते हैं। नीत्से ने सुपरमैन, हिटलर ने आर्य और मनु या हिन्दू संस्कृति ने ब्राह्मण को श्रेष्ठ सिद्ध करके अपने-अपने दर्शन में यही प्रस्तुत किया था।

यह जग जाहिर है कि लिंगभेद के बटखरे पर असमानता मनुष्य पर मनुष्य द्वारा वर्चस्व कायम करने की ही साजिश थी।

इन्हीं गैर बराबरियों को दूर कर मनुष्य को बराबर के अधिकार दिलाने के प्रयास औद्योगिक युग के बाद चालू हुए। फ्रांस की क्रान्ति मनुष्य की वर्चस्ववादी सोच के विरुद्ध आज़ादी, भाईचारा और समानता को आधार मानकर चली। अमेरिका में गुलामों की आज़ादी की लड़ाई, जो गृहयुद्ध में बदल गई, काले और गोरे की लड़ाई नहीं थी बल्कि मनुष्य का दर्जा पाने की लड़ाई थी। रूस की क्रान्ति राजतंत्री सोच के खिलाफ तो थी ही, जो ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था, साथ ही वह श्रम की महत्ता कायम करने और परजीवी जमातों को परास्त करने की प्रतिनिधि लड़ाई भी थी। भारत में दलित और सवर्ण का विभेद एक तरह से सामन्त, राजा, पूंजीपति तथा गरीब जनता के साथ-साथ चलता आया है। यह भी कहा जा सकता है कि दलित और सवर्ण की ब्राह्मणवादी सोच ने ही भारत में सामन्तवाद को पुष्ट किया और ऊर्जा दी।

यह सिद्ध हो चुका है कि समान अवसर मिलने पर हर मनुष्य, यदि वह मानसिक व शारीरिक रूप से स्वस्थ है तो ऊँचाइयाँ चढ़ सकता है और मनुष्यता का हक पा सकता है तो कर्तव्य भी अदा कर सकता है। सामन्ती व्यवस्था लोगों पर अपनी श्रेष्ठता का दावा करके इसी समान अवसर का मौका हासिल नहीं करने देती। ब्राह्मणवादी सोच अपनी जाति व जन्म और भाग्य का दावा ठोक कर इसी समान अवसर के मौके से दलितों/ बहुजनों को प्राप्त करने से वंचित करती रही है। उसी प्रकार पूँजीवादी सोच मुनाफे के चक्कर में बाजारवाद और उपभोक्तावाद की होड़ (कम्पीटीशन) लगाकर आमजन को वस्तु बना देती है और केवल लाभकारी तत्वों को समृद्ध बनाकर अर्थ के आधार पर लोगों को छोटा-बड़ा बनाती है।

बाबा साहब ने यह भी महसूस किया कि सभी को समान अवसर देने पर,

बहुत हद तक गैर-बराबरी दूर कर के बराबरी लाई जा सकती है, इसीलिए उन्होंने हमारे संविधान में समान अवसर का प्रावधान किया। जो लोग पिछड़ गए हैं, उन्हें समान स्तर पर लाने के लिए उन्होंने आरक्षण का प्रावधान किया।

युद्धरत आम आदमी परिवार नए वर्ष में पूर्वोत्तर के आदिवासी स्वर के रूप में पूर्वोत्तर की तरह आदिवासी भाषाओं के आदिवासी लेखकों के विचार, साहित्य, पहचान, जीवनशैली, लोकगीत, लोककला, लोकनृत्य, त्योहार-पर्व एवं लोकसाहित्य से लैस विशेषांक प्रस्तुत करने जा रहा हैं। इसी नए वर्ष में हम आप के समक्ष प्रस्तुत करेंगे भारतीय स्तर पर 'स्त्री स्वर' विशेषांक।

पिछले वर्ष हमने कई महत्वपूर्ण साथियों को खोया है जिनकी क्षतिपूर्ति असम्भव है।

समाजवाद के चिन्तक एवं एकला चलो वाले नेता किशन पटनायक का न रहना समाजवादी आन्दोलन के लिए गहरा धक्का है। कथनी और करनी में फर्क न करने वाले विरल ही होते हैं किशन पटनायक उन विरल लोगों में से एक थे। वे खुले दिमाग से दूसरों को भी साथ ले कर चलते थे पर सिद्धान्तों पर कभी समझौता नहीं करते थे। चुनाव या लोकसभा की सदस्यता कभी उनकी प्राथमिकता नहीं रही। उनकी प्राथमिकता थी विचारधारा और उसका अनुपालन। एक इकाई रह जाने के बाद भी उन्होंने अपने गिर्द समाजवादी विचारधारा के कई सिपाही खड़े कर लिए थे, जो बिना किसी प्रलोभन के निर्धारित नीतियों को अमल में लाने के लिए कटिबद्ध हैं और जन-जन से जुड़ाव रखते हैं। साहित्य के क्षेत्र में हमारे बीच से इतनी कम उम्र में राघव आलोक का चले जाना अत्यन्त ही दुखद है। पिछले दिनों उन्होंने आदिवासी अंक काफी मेहनत करके निकाला था। उनका यह अंक साहित्य जगत् को एक नायाब उपहार था। आम आदमी परिवार इन दोनों के निधन पर अपना शोक प्रकट करता है।

## रंगभूमि : मुद्दे से अधिक राजनीति

प्रेमचन्द की रंगभूमि को जलाने की खबर एक जिम्मेवार दलित संगठन द्वारा प्राप्त हुई। कुछ अटपटा सा लगा। इस संस्था के संस्थापक और कर्ताधर्ता नेतृत्वकारी साथी एवं संरक्षक सभी के सभी दलित की परिभाषा को भी व्यापक बनाने के पक्षधर रहे हैं और दलितों एवं गैरदलितों दोनों को ही सामूहिक रूप से सम्मानित और पुरस्कृत करते रहे हैं। जब हिन्दी पट्टी के या भारत के अन्य प्रदेशों के दलित लेखक अथवा मेरे जैसे कतिपय अन्य दलित-समर्थक गैरदलित भी इस बात की जिद्द करते रहे हैं कि 'केवल दलित का लिखा ही दलित-साहित्य हो सकता है' तो भारतीय दलित साहित्य एकादमी का नेतृत्व बराबर ये कहता रहा है कि सभी वंचित लोग दलित में शामिल हैं, केवल अनुसूचित जाति के लोग ही नहीं। ऐसी संस्था द्वारा प्रेमचन्द के रंगभूमि को इस आधार पर जलाना कि उसमें जाति-सूचक शब्दों का प्रयोग हुआ है बिना संदर्भ बताए कार्यवाही करना, कुछ आश्चर्यजनक लगा। तुलसी रामायण में "ढोल, गँवार, शूद्र, पशु नारी ये सब ताड़न के अधिकारी", जैसे कई अवांछित और दलितों और वंचित लोगों को अपमानित करने जैसी पंक्तियाँ भरे पड़े हैं। वाल्मीकि रामायण में भी शम्बूक की हत्या का प्रसंग शर्मनाक प्रसंग है, जिसमें शम्बूक की हत्या राम ने इसलिए की कि वह शूद्र होकर ब्राह्मण का कार्य यानि तपस्या कर रहा था, अर्थात् ज्ञान हासिल करने की धृष्टता कर रहा था।

प्रेमचन्द के साहित्य में तो दलित चेतना से लैस दलित-पात्र, सवर्ण-पात्र के मुँह में गाय की हड्डी भी टूंस देता है। हालांकि उस समय प्रेमचन्द दलित-अवधारणा से परिचित नहीं थे लेकिन सामाजिक और मानवता के लिहाज से, उस समय की अपनी समझ के अनुसार वे समाज के शोषित-पीड़ित दलितों का समर्थन करते थे। ऐसी सामाजिक कुरीतियों और विकृतियों के खिलाफ अपने समय के गैरदलित साहित्यकार और चिन्तकों से काफी आगे थे। सम्भवतः डॉ. अम्बेडकर का भी उन पर प्रभाव पड़ा था। ये सही है कि पूना पैक्ट के मामले में उन्होंने डॉ. अम्बेडकर की बजाय गाँधी का साथ दिया, जिसके कारण उनसे हमारा मत भेद है। पर पूना पैक्ट के मूल कारण तो गाँधी जी थे, जिनसे परिस्थितिवश डॉ. अम्बेडकर को समझौता करना पड़ा, जो सचमुच में दलित आन्दोलन के लिए धक्का साबित हुआ। इसलिए विरोध तो जातिवाद की वटवृक्ष यानी 'जड़' का होना चाहिए, 'फुनगी'

का नहीं। 'फुनगी' के विरोध से क्या हासिल होगा? बाबा साहब ने इसी धार्मिक जड़ता का विरोध किया था, उन्होंने जब मनुस्मृति जलाई या 'रिडल्स ऑफ हिन्दुइज्म' लिखा था। मनुष्य का अस्तित्व ही विकास पर आधारित है और सोच भी बदलती रहती है। अपने काल के अनुसार जो समय से आगे चलने वाले या समय के विपरीत चलने वाले होते हैं, वे ही लोग पहचान में आते हैं। उनका अतीत जो भी रहा हो, अंतिम दौर में वे कहाँ पहुँचे, उस घड़ी से लोगों को पहचाना और याद किया जाता है? आइंस्टीन इतना बड़ा वैज्ञानिक था लेकिन उसी के दिमाग की उपज से हिरोशिमा घटा। सोकरेट्स बहुत बड़ा दार्शनिक था लेकिन वह भी गुलाम-प्रथा का समर्थक था। जब हम वाडमय या इतिहास अथवा अतीत में झाँकते हैं तो आज के सन्दर्भ में उनकी उपलब्धियों को स्वीकार कर लेते हैं और गलतियों-त्रुटियों को अस्वीकार कर देते हैं। इसी के तहत नकार और स्वीकार की कार्यनीति को बाबा साहब ने एक हथियार के रूप में हमें थमाया था। साहित्य कोई धर्म नहीं होता बल्कि जनता की तत्कालीन मानसिकता का आइना होता है, जो सत्य और यथार्थ को उजागर करता है। दुर्भाग्यवश दलित आन्दोलन मनुस्मृति, जो भेद-भाव की जड़ है, को जलाना ही भूल गया। अगर दलित आन्दोलन रामायण जलाता तो भी समझ में आता कि अंधविश्वासों से मुक्ति पाने की मुहिम में उनके प्रतीकों को भस्म किया जा रहा है और वर्ण व्यवस्था या भेद-भाव भरे धर्म-ग्रन्थों को नकारा जा रहा है। पुराणों में ऐसी अनेकों कथाएँ भरी पड़ी हैं, जिनमें शूद्र और पंचम अपमानित होते हैं। संस्कृतशास्त्रों में तो शूद्र होना ही अपराध है, पाप है, दण्डनीय है। संस्कृत साहित्य में दलित का वर्णन ही नहीं बल्कि उसका साहित्य का पात्र बनना भी वर्जित था। 20 वीं सदी में दलित-पात्र साहित्य में आने शुरू हुए। साहित्य की विचारधारा भी मानव की विचारधारा के अनुरूप बदलती रही, जो आज भी बदल रही है।

जाति-सूचक शब्द जिनका प्रयोग रंगभूमि में हुआ है, वैसे ही शब्दों का प्रयोग पात्र या संवाद के आग्रह के अनुरूप प्रायः सभी दलित लेखकों ने भी अपने साहित्य और बहसों में जरूरत या अनिवार्यता के अनुसार किया है। दरअसल देखना ये होता है कि उन शब्दों के पीछे लेखक की मानसिकता, संदर्भ या सापेक्षिकता क्या है? तुलसी की मानसिकता शतप्रतिशत उस समय की वह मानसिकता थी, जिसमें तुलसी पैदा हुए, जो वर्ग-वर्ण और लिंग के आधार पर भेद-भाव की समर्थक थी यानी सामंतवाद, पूँजीवाद, ब्राह्मणवाद, वर्चस्ववाद और पुरुष शासन से ग्रस्त मानसिकता। वही मानसिकता आज भी बरकरार है, जिसे हम भारतीय मानसिकता कहते हैं। दलित भी उससे स्वयं को मुक्त नहीं कर पाया है।

रंगभूमि को जलाना भी कुछ बाबरी मस्जिद ढाने या ढहाने वालों जैसा ही लगता है, जिसके पीछे राजनीति अधिक है और दलित-चेतना कम। ये मांग तो सरकार से की जा सकती थी कि ऐसे अपमानजनक शब्द सभी धर्म-ग्रन्थों से

निकाल दिए जाएं या ऐसे धर्म-ग्रन्थों को पाठ्यक्रम से निकाल दिया जाए। अकादमी द्वारा ऐसी मांग न कर, एक ऐसे साहित्यकार के खिलाफ मुहिम छेड़ी गई जो जाति-व्यवस्था या अन्य समाजिक कुरीतियों का अपने समय से आगे बढ़कर विरोधी रहा है। ये मांग व्यवहारिक नहीं है। दरअसल साहित्य में यथार्थ की हू-ब-हू अभिव्यक्ति हेतु लेखक को ऐसे शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ता है जो पात्र के अनुकूल हों। साहित्यिक कृतियों के संदर्भ में ऐसी माँग का अर्थ होगा समय के यथार्थ को दर्शाने वाले सभी साहित्य को नकारना। फिर साहित्य में बचेगा क्या? दलित साहित्यकार भी इसकी जद में आ जाएँगे यहाँ तक कि बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर का साहित्य भी इसका शिकार हो जाएगा और हमारा संविधान भी। साहित्यकार पर रोक लगाकर दलित-शोषण के यथार्थ अभिव्यक्ति पर भी रोक लगने का खतरा हो जाएगा। दलित साहित्यकारों का लिखना भी बंद हो जाएगा। संविधान में दलितों की जातियाँ ही अनुसूचित की गई हैं, दलित शब्द नहीं। माँग तो ये होनी चाहिए कि संविधान में संशोधन कर सभी दलित जातियों के लिए केवल दलित शब्द ही अनुसूचित किया जाए ताकि वे जमात बन सकें और अपने भीतर ब्राह्मणों द्वारा किए गए विभाजन को समाप्त कर सकें।

आदिवासी जन अपने को अनुसूचित जनजाति कहलाने में अपना अपमान समझते हैं क्योंकि आदिवासियों में कोई जाति ही नहीं होती। ग्रन्थ जलाकर प्रतीकात्मक तौर पर अपना गुस्सा ज़रूर जाहिर किया जा सकता है। आपका गुस्सा भी सही है लेकिन प्रेमचन्द के साहित्य को गुस्से का निशाना बनाना उचित नहीं लगता चूँकि प्रेमचन्द ने ही दलित समर्थक कहानी की शुरुआत की थी, भले दलित कहानी न लिखी हो। निशाना तो हिन्दू धर्मग्रन्थों पर होना चाहिए, जिसने जाति को जन्मा-पाला-पोसा और संरक्षण दिया।

देखा जाए तो सरकार अनुसूचित जाति को जो जाति प्रमाण पत्र देती है वह जाति सूचक शब्द से ही दिया जाता है दलित कहकर नहीं, जैसे कि 'बायकास्ट अमुक-अमुक' क्योंकि इसी आधार पर उन्हें आरक्षण की सुविधा मिलती है। ज़रूरत तो इन जाति-प्रमाण पत्रों में भी सुधारने की है। पर ढंग से? उन्हें जलाकर या उनमें सुधार करने के लिए आन्दोलनरत होकर? दरअसल जब तक हमारी अपनी मानसिकता में सुधार नहीं आएगा तब तक कोई भी कागजी सुधार बदलाव नहीं ला सकता।

सरकार ने 'हरिजन' शब्द पर तो रोक लगा दी है पर आज भी बिहार, झारखण्ड या देश के कई अन्य भागों में उन्हें गैर-दलित तो हरिजन कहते ही हैं, पर स्वयं दलित भी खुद को 'हरिजन' ही कहते हैं। वे अपना परिचय भी जाति-सूचक शब्दों से ही देते हैं। सभी जातियों के लोग ऐसा ही करते हैं।

हाल ही में भाजपा शासित राज्य की एक मुख्यमंत्री ने वर्षा हेतु एक यज्ञ करवाया। उसमें सभी मंत्री शामिल हुए लेकिन दलित मन्त्रियों को उस यज्ञ में

शामिल नहीं होने दिया गया। इसका विरोध कब होगा और कौन करेगा? यह तो हाल ही की बात है। भारतीय दलित एकादमी क्या इस मुद्दे पर भाजपा से सम्बन्धित अपने पदाधिकारियों को, जिसमें राज्यपाल रह चुके सूरजभान और महावीर जैसे महारथी भी हैं, भाजपा जैसी पार्टी छोड़ने पर मजबूर कर पाएगी?

आदरणीय सोहनपाल सुमनाक्षर जी स्वयं कांग्रेसी हैं। अर्जुन सिंह भी उनके कार्यक्रमों में शामिल होते हैं। सुमनाक्षर जी तो सोनिया से भी मिलते हैं। उन्हें तो अगुवाई करके कांग्रेस के नेतृत्व को इस बात के लिए मजबूर करना चाहिए कि रामायण समेत ऐसे सभी धर्म-ग्रन्थों को पाठ्यक्रम में शामिल करना बंद किया जाए, जिनमें, वर्ग, वर्ण, लिंग अथवा जाति के आधार पर मनुष्य को छोटा, निकृष्ट व ताड़न का अधिकारी कहकर अपमानित किया गया है। भारतीय साहित्य एकादमी के नेतृत्व से मेरी यह विनती है कि वे दलितों या गैरदलितों के किसी भी जाति-बोधक सम्मेलन में भाग नहीं लें और न ही जातिबोधक सम्मेलन आयोजित करें। केवल दलित नाम से सभी दलित जातियां जानी जाएं, इसका प्रयास करें तो दलित आन्दोलन को शिखर पर पहुँचाया जा सकता है, जहाँ कोई उसे नज़र अंदाज नहीं कर पाएगा। अच्छा तो यह होगा कि पासवान सतनामी, पासी, वाल्मीकि, दुसाध, महार, मातंग, चमार, जाटव या कोई भी किसी भी सवर्ण-असवर्ण जाति द्वारा जाति-सूचक शब्द का इस्तेमाल वर्जित कर दिया जाए। सरकार यह आदेश दे, न दे, पर कम से कम संगठन तो अपने स्तर से इसकी शुरुआत कर ही सकते हैं विशेषकर दलित संगठन चूंकि उनकी एकता ज्यादा जरूरी है।

जहाँ तक भावनाओं को चोट पहुँचाने का सवाल है तो यह सापेक्षिक है जो खासकर धर्मग्रन्थों से जुड़ा है। चूंकि भावनाएँ सापेक्षिक होती हैं इसलिए साहित्य के साथ जोड़ने से इसे साहित्यकार की स्वतंत्रता पर हमला भी माना जा सकता है। जहाँ तक 'दलित' का सवाल है उनका मुद्दा भावना से नहीं मानवता के अधिकारों से जुड़ा है, जिसमें समानता, भाईचारा और आज़ादी तीनों समाहित हैं। भावना पर चोट का सवाल उठाइये तो तस्लीमा-नसरीन और सुलेमान रुशदी के पक्ष में हम कैसे खड़े पाएंगे? उनके खिलाफ भी तो मुस्लिम कट्टरपंथी 'भावना पर चोट' धर्म के अपमान का सवाल उठाते हैं। जबकि ठीक इसके विपरीत दलित आन्दोलन का पहला लक्ष्य ही धर्म के आडम्बर, अन्धविश्वास, कठमुल्लापन, रूढ़ीवाद, विकृत परम्परा, भाग्य, भगवान को नकाराना तथा उनका विरोध करना है। राजेन्द्र यादव जी ने रंगभूमि के सन्दर्भ में 'भावना पर चोट' का मुद्दा उठाया है। रंगभूमि में प्रयुक्त जाति-सूचक शब्दों को भावना के मुद्दे से जोड़ना उचित नहीं लगता चूंकि दलित आन्दोलन का औचित्य बताते हुए हमें सवर्ण जातियों को भी नाम लेकर घृणास्पद साबित करना पड़ता है। यदि हम इस तरह भावना के मुद्दे को अहमियत देंगे। तब हम आप या दलित-जन अथवा वंचित जमातों, सवर्णों, वर्चस्वादियों के

खिलाफ कैसे आवाज़ उठाएँगे चूँकि वे सब भी 'भावना पर चोट' का सवाल उठा सकते हैं। लड़ाई मानवता की है जो हमेशा सब के लिए एक सी शरतें रखती है, लड़ाई भावनाओं की नहीं है चूँकि वे सापेक्षित होती हैं। भावनाओं पर चोट का हथकंडा तो आज तक कट्टरपंथी ताकतों द्वारा ही अपनाया जाता रहा है। यदि जनवादी, प्रगतीशील, दलित तथा आदिवासी भी यही हथियार अपनाएँगे तो दोनों में क्या अन्तर रह जाएगा? फिर वंचित जमातों की लड़ाई भी हम कैसे लड़ सकेंगे चूँकि हरकदम पर किसी न किसी की भावना पर चोट तो पहुँचेगी ही?

एक और किस्सा, जो राजनैतिक कारणों से आदिवासियों को अपमानित करने के लिए गढ़ा गया है, वह है झारखण्ड की भाजपा सरकार द्वारा शिवू सोरेन पर एक साजिश के तहत वर्षों बाद दबा हुआ वारन्ट जारी करवाना और वह भी ऐसे आरोप या गुनाह के लिए, जो उन्होंने किया नहीं। उन पर अल्पसंख्यकों की हत्या करने का आरोप लगाकर उन्हें साम्प्रदायिक घोषित कर अलग-थलग करने का यह षड्यन्त्र झारखण्ड की सरकार ने अगले चुनाव को नजर में रख कर रचा है। वे जानते हैं कि झारखण्ड का अल्पसंख्यक वर्ग नेतृत्व और आवाम, दोनों ही स्तर पर शिवू सोरेन के साथ भारी है। सच तो यह है कि भाजपा के नेतृत्वकारी व उनके अनुयायी ही झारखण्ड के आदिवासियों की जमीन नाजायज ढंग से हड़प कर उन्हें बेघर, बे-जमीन कर खानाबदोश बना रहे हैं। शिवू सोरेन का आन्दोलन ऐसे ही महाजनों जमीन हड़पु 'दिकुओं' के खिलाफ था। लेकिन शिवू सोरेन एक जननेता हैं जो जड़ों से जुड़े हैं।

इधर यू. पी. ए. सरकार से जो उम्मीदें आम जनता ने लगाई थीं उससे मोहभंग होता जा रहा है। मजदूरों की भविष्यनिधि के ब्याज में 9.50% से 8.50% करना, यू. पी. ए. सरकार का मजदूर जमात के साथ विश्वासघात है और वादाखिलाफी है। उधर मँहगाई भी बढ़ गई है। अब यू. पी. ए. सरकार की इन गलत नीतियों को उजागर कर उनके खिलाफ मोर्चा लेना बहुत ज़रूरी हो गया है। ये सही है कि ये सरकार वामपंथी बैसाखियों पर खड़ी है और यह भी सही है कि उन्हें गिराकर हम देश को साम्प्रदायिक शक्तियों के हवाले नहीं कर सकते। दरअसल भाजपा और कांग्रेस 'ए' और 'बी' टीम हैं इसलिए ज़रूरी है कि अब जनता के बीच जाकर इन शक्तियों के विरुद्ध मोर्चा लिया जाए। यू. पी. ए. सरकार के मंत्रिमंडल में कांग्रेस के अधिकतर वे ही प्रतिनिधि हैं, जिन्होंने आज तक कांग्रेस का बंटधार करने में अहम् भूमिका निभाई है। वे अभी भी अपनी पुरानी हरकतों से बाज नहीं आ रहे। देखें, सोनिया गाँधी उनकी लगाम कस पाती हैं या नहीं? हमें तो तुरंत इस कांग्रेस की दुमुही नीति के खिलाफ मोर्चे पर जाने के लिए तैयार होना पड़ेगा।



## फासीवादी साम्प्रदायिक ताकतों पर लगाम

चुनाव हो चुका है। देश में फासीवादी एवं साम्प्रदायिक ताकतों की गति पर जनता ने कुछ हद तक रोक लगा दी है पर इसे उन शक्तियों की शिकस्त समझ कर निश्चिन्त नहीं हुआ जा सकता। कारण वोटों में बहुत भारी अन्तर नहीं है। एक बड़ा तबका अभी भी उनके चंगुल में है, इसलिए जनवादी ताकतों को अभी और अधिक सजग और सावधान रहना होगा।

मिली-जुली सरकार बन गयी है। जिसमें बहुत से पुराने ऐसे चेहरे भी हैं जो उदारनीति, निजिकरण, वैश्वीकरण व निवेश के पक्षधर हैं। वामपंथी पहली बार एक बड़ी शक्ति के रूप में उभरे हैं। तीसरा खेमा बन तो नहीं पाया पर टुकड़ों में ही सही, उसने कुछ हद तक अपनी पहचान कायम रखी है। उस खेमे की जनवादी शक्तियां, जो एकजुट होकर देश को कुछ नई दिशा दे सकती हैं, कुछ व्यक्तिगत कारणों, कुछ व्यक्तियों की टकराहट और कुछ नेतृत्व में आने की होड़ के कारण आपस में बंट गई हैं, इसलिए वे अभी डॉरमेंट (Dorment) हैं, यानी चुप हैं। एक मायने में कहा जाए, तो डॉ. अंबेडकर के सपनों का बहुजन समाज एकजुट होने की बजाय और भी बंट गया है। चुनावी शिकस्त और ताजमहल के मुकदमे के बाद दलित राजनीति ने मायावती की तरह चुप्पी साध ली है, शायद वह भी मौके की तलाश में है।

कांग्रेस, जो आज तक देश में अकेले राज करने की अभ्यस्त रही, की गलत नीतियों के कारण ही साम्प्रदायिकता, अलगाववाद, विशेषकर जातिवाद जैसी शक्तियां बढ़ी हैं, वही आज एक साझी व्यवस्था में काम करने के लिए बाध्य है। सोनिया के नेतृत्व के चलते सम्भवतः कांग्रेस के दंभी महारथी व नेतागण, जिन्होंने कांग्रेस को अपनी सुविधा और स्वार्थ के लिए एक प्लेटफॉर्म बना रखा था, साझी व्यवस्था की इस हकीकत को स्वीकार करने के लिए तैयार हुए। सोनिया ने एक और नींव डाली जो स्वागत योग्य है। उन्होंने प्रधानमंत्री का पद त्याग कर एक मिसाल तो कायम की ही पर एक अल्पसंख्यक को प्रधानमंत्री बनाकर अपनी राजनैतिक सूझ-बूझ का परिचय भी दिया। दूसरा सबसे बड़ा बदलाव जो कांग्रेस पार्टी की परिपाटी में उन्होंने लाया, वह है सत्ता के केंद्र बिन्दु में बदलाव लाया जाना। सोनिया ने सत्ता का केन्द्र बिन्दु पार्टी को बनाकर और अपनी पार्टी के नेतृत्व में बनाई गई उस साझा समिति (U.P.A.) का गठन कर, संगठन को सत्ता

से ज्यादा महत्वपूर्ण दर्जा देने की चेष्टा की है। ये समिति (यू.पी.ए.) साझा कार्यक्रम लागू कराएगी। वे इसमें कहाँ तक कामयाब होंगी, यह तो समय ही बताएगा किन्तु एक बात निश्चित है कि सरकार का पांच वर्षों तक चलना इस साझा समिति की सफलता पर ही निर्भर है। इस समिति में वामपंथी भी शामिल हैं, हालांकि वे सरकार में शामिल नहीं हैं। साझा सरकार का कोई भी घटक या स्वयं कांग्रेस पार्टी भी इस समिति के महत्त्व और सच्चाई को समझते हैं। यक्ष-प्रश्न यह है कि वामपंथी पार्टियाँ किस हद तक साझा कार्यक्रमों को लागू कराने में कामयाब हो पाएँगी? वे सरकार पर अपना दबाव बनाने के लिए भीतर और बाहर यानि लोकसभा और सड़कों पर अपना कितना दबाव बना सकेंगी सब कुछ इस बात पर मुनस्सर है और मुनस्सर इस पर भी है कि सोनिया जी कितना अधिक जनतांत्रिक बनकर सबका सहयोग ले सकेंगी। अगर वामपंथ सदन के भीतर और बाहर विपक्ष की भूमिका निभाने में कामयाब होता है, तो वह जनता में उठे विरोध व असन्तोष को मुखरित करके सरकार को कार्योन्मुखि बना पाएगा। इस प्रकार वह भाजपा तथा उनकी सहयोगी साम्प्रदायिक शक्तियों को धर्म के नाम पर जनता के ज़रूरी मुद्दों से ध्यान हटाने का अवसर नहीं देगा। इस कार्यनीति को अपनाने हेतु तीसरे खेमे की शक्तियों को भी कमजोर न होने देना ज़रूरी है, ताकि वे हताशा में साम्प्रदायिक शक्तियों के साथ हाथ न मिलाएँ। ये जिम्मेवारी वामपक्ष की तो है ही पर बड़ी पार्टी होने के नाते कांग्रेस की भी है।

उत्तर प्रदेश में साम्प्रदायिकता का विरोध करने वाली शक्ति मुख्य तौर पर सपा ही रही है। कांग्रेस का अपना वर्चस्व कायम करने के लिए उसे कमजोर करने का अर्थ होगा, उत्तर प्रदेश में भाजपा जैसी साम्प्रदायिक शक्ति को राहत पहुँचाना। कांग्रेस बड़ी पार्टी है। कई राज्यों में उसकी हुकूमत है लेकिन उसको देश के व्यापक हित में अपने दल के वर्चस्व की भावना को स्थगित रखकर चलना होगा ताकि साझा सरकार अपना कार्यकाल तथा घोषित एवं निर्धारित कार्यक्रम एवं नीतियों को ईमानदारी से सफलतापूर्वक लागू कर सके। कांग्रेस की इस साझा सरकार को ईमानदारीपूर्वक पांच वर्ष तक निभा पाने की क्षमता ही जनता में उसके प्रति विश्वास पैदा कर सकती है। अगली बार हो सकता है जनता उसे ही स्वीकार कर ले। दरअसल साझा सरकार चलाना एक विशेष प्रकार के अनुशासन व दयानतदारी की मांग करता है। यह भी संभव है कि पांच वर्ष बाद कांग्रेस एक बदली हुई कांग्रेस नजर आए। पश्चिमी बंगाल में वाममोर्चे की सरकार इसी इमानदारी पर पिछले 20 वर्षों से लगातार शासन में है। देश में आने वाला समय परिवर्तनकारी हो सकता है यदि सरकार के सभी घटक अपने साझा कार्यक्रम के प्रति प्रतिबद्ध रहें? खासकर कांग्रेसी लोग। ये तभी सम्भव है, जब कांग्रेस के भीतर के व्यक्तिवादी रुझान वाला नेतृत्व एक सामूहिक नेतृत्व को विकसित करने का प्रयास करे।

ये सही है कि सोनिया शीर्ष पर हैं और उन्हें कांग्रेस के भीतर बेंग तौलने में काफी कठिनाईयां आती होगी। ऐसे सोनिया जी फिलहाल कांग्रेसियों की इधर-उधर फुदक कर जाने की मेंढकी प्रवृत्ति को काबू रखने में सक्षम साबित हुई हैं। उन्होंने कोई अपमानजनक समझौता भी नहीं किया है, ना ही पार्टी कैडर उनके निर्णय को बदल सका है। वे चाटुकारिता-पसन्द भी नहीं लगती। ये इसलिए सम्भव हो सका चूंकि सोनिया में पद त्यागने की कुव्वत है। भले ही लोग कहें कि ये कुव्वत किसी राजनीतिक चाल के तहत थी, भय के कारण अथवा अपने को अयोग्य समझने के कारण थी पर ऐसी कुव्वत हिन्दुस्तान के इतिहास में आज तक किसने दिखाई है? गाँधी जी के बाद, ज्योति बसु का उदाहरण छोड़कर किसका नाम लें, जिसने पद मिलने पर कहा हो उसे उसका निर्धारित या तयशुदा पद नहीं चाहिए। कब्र में पांव रखने के करीब उम्रदराज लोग भी हमारे यहाँ प्रधानमंत्री तो क्या पार्लियामेंट के मेम्बर बनने अथवा विधायक बनने का मोह तक नहीं त्याग सकते, जबकि वे अच्छी तरह जानते हैं, कि वे कुछ खास करने के काबिल नहीं हैं। लोगों को खटिया पर डालकर संसद शपथ दिलाने लाया जाता है।

खटिया पर या कंधे पर लादकर आज कल वोट डालने का उत्साह तो समझ में आता है लेकिन...? खैर! गनीमत है कि अभी कांग्रेस के लोग अपनी पुरानी आदत छोड़कर अपने ही पलड़े पर इधर-उधर फुदकते हैं या धींगा-मुश्त करते हैं दूसरे पलड़े पर कूद कर नहीं जाते। सत्ता केंद्र अब कांग्रेस सरकार की बजाय पार्टी के हाथ में आने से सम्भवतः कांग्रेसी चरित्र में कुछ परिवर्तन आये। वे शायद अब एक अनुशासित पार्टी बनकर काम कर पाएं और जनता को दिए गए वायदे पूरा करने में अपना समय लगाएं।

यह शुभ है कि प्रधानमंत्री एक साफ-सुथरी छवि के व्यक्ति हैं और अनुशासनबद्ध भी। उन्होंने समय और देश के अनुरूप उदारनीतियों को मानवीय पक्ष देने की घोषणा की है। निजीकरण की होड़ पर रोक लगाने के लिए भी वायदा किया है। इसके बावजूद उनके समेत उनके दल के कतिपय मंत्री निजीकरण के दीवाने हैं और अपने असली दांत दिखाने का प्रयास कर रहे हैं। उनका विरोध भी शुरू हो गया है।

लालू प्रसाद यादव ने अपने रेल मन्त्रालय के कार्यकाल में ग्रामीणोन्मुखी नीतियां अपनाकर एक बड़ा काम कर दिखाया है, जो उनके समाजवादी चरित्र का द्योतक है। सब्जी एक्सप्रेस चलाकर वे किसानों को शहर से ही नहीं जोड़ रहे बल्कि वे किसानों की क्रय क्षमता बढ़ाने में भी सहायक हो रहे हैं। उनके इस कदम से बीच के दलालों की जमात खत्म हो जाएगी। 'चुक्कों' में चाय तो हम लोग बिहार में पीने के आदि हैं, अब देश भर में 'चुक्कों' की महक पहुँचेगी और कुम्हारों के बन्द चाक फिर गतिशील हो कर चक-चक कर उठेंगे।

रामविलास पासवान से भी हमें बहुत उम्मीदे हैं। कभी हिन्दुस्तान का लोहा

मिस्र देश की 'ममियों' के लिए बनाए गए बृहद गुम्बजों को बनाने के लिए भारत से निर्यात होता था लेकिन पिछले 56 वर्षों से अपनाई गई नीतियों के कारण हम लोहा/इस्पात आयात करते हैं चूँकि देश के सरकारी, गैर सरकारी व सार्वजनिक क्षेत्र के बड़े कारखाने भी देश के लोहे/इस्पात की बजाय विदेशों से लोहा/इस्पात आयात करना पसंद करते हैं। आशा है वे ज़रूर इस स्थिति को पलट कर भारत के इस्पात कारखानों को एक विराट रूप देंगे और इस्पात/लोहा आम आदमी को सस्ते दामों पर उपलब्ध कराएँगे। सस्ता करने की मुहिम तो उन्होंने अपने विभाग में छेड़ दी है स्टील हो या दवा, दोनों पर उनकी नज़र गई है। वे जिस भी विभाग को लेते हैं, जगजीवन बाबू की तरह उसे सोने का बना देते हैं। संचार और रेल को तो उन्होंने नक्शे पर ला ही दिया था, अब इस्पात की बारी है।

देखना है कि आदिवासी और दलितों के लिए यह साज़ा सरकार क्या विशेष कार्य करती है? उनकी शिक्षा उनकी मातृभाषा में दी जाय और उनकी भाषाओं को कैसे प्रस्थापित किया जाए? उनका विस्थापन कैसे रुके और पुनर्वास कैसे हो? उनके जंगल व जमीन के अधिकार कैसे उन्हें पुनः मिलें? उनकी भाषा-संस्कृति-साहित्य व अस्मिता की रक्षा कैसे हो? उनकी अभिव्यक्ति की ताकत द्वारा उनके सशक्तिकरण के लिए कौन से कदम ज़रूरी हैं? आदिवासियों को भागीदार बनाकर उन के लिए वांछित सामाजिक अधिकार व राजनैतिक परिवर्तन हेतु नीतियों का निर्धारण करने के लिए व्यवस्था में कौन-कौन सा परिवर्तन ज़रूरी? इन सब प्रश्नों व मुद्दों पर यह सरकार क्या रुख अपनाती है, यह देखना अभी बाकी है। जनजातीय आदिवासी व दलितों में परिवर्तन की रोशनी और स्त्री आरक्षण का मुद्दा अभी बाकी ही है। लोकसभा में ये मुद्दे आएँगे ही, ऐसी हम उम्मीद करते हैं लेकिन इसका क्या हथ्र होगा, यह बताना कठिन है। सरकार चाहे तो स्त्रियों के प्रति अपनी सही मंशा जाहिर करने हेतु नौकरियों में उनकी भागीदारी तो बढ़ा ही सकती है और दलितों व आदिवासियों के वर्तमान आरक्षण को पूरी तरह लागू कर उनका बैकलाग भरकर, उनकी बेरोजगारी की बड़ी खाई को पाट दे सकती है। यह तो तत्काल कर ही देना चाहिए।

## बिरसा की तरह गाँधी लड़े या गाँधी की तरह बिरसा

यात्रा... हवाई जहाज में कुछ लिखने का प्रयास... फिर लगातार नींद का अहसास... पूर्वोत्तर के केवल एक लेखक के जीवनवृत्त का अनुवाद करने के बाद... मेरे साथ-साथ कलम का भी सो जाना... पटना पहुँचने की घोषणा... एकाएक मेरा जगना और इस सोए हुए समय के हिसाब की मन ही मन गणना करते जाना... लिखने और न लिख पाने का द्वंद्व झेलते हुए रांची पहुँचना... ऐसे लगा कि आकांक्षा ऊँचे, बहुत-बहुत ऊँचे उड़ते-उड़ते पत्तन पर उतर गई है। लगा कहीं ढलान पर लुढ़क रही हूँ मैं। फिर दिन भर की प्रबंधकीय, प्रशासकीय उलझनें... 'अखिल भारतीय साहित्यिक मंच' की बैठक में 9 जून, 2004 को पूर्वोत्तर के आदिवासी लेखकों के सम्मेलन की घोषणा! तीन दिन की जद्दोजहद... वर्तमान भविष्य के बीच संतुलन बनाए रखने की चेष्टा और समय के घटते जाने का बढ़ता ही जाता अहसास... अत्यधिक चिंता और प्रयास ने आखिर मुझे रांची के गुरुनानक अस्पताल के Incentive Care Unit में ला पटका।

चार दिन लगातार एक भीषण नींद का हमला झेलते हुए... बीच-बीच में जागकर स्मृतियों को लौटाने की कोशिश में बीतते क्षण! दो-दिन उसी अस्पताल के कमरे में डॉक्टरों और मित्रों द्वारा दी गई आराम करने की नसीहतें-हिदायतें और उम्र का अहसास दिलाते हुए खुरदरे शब्द मेरे पोर-पोर में उम्र का... अहसास दर्ज कराते रहे, उम्र जिसे मैं सदैव नकारती और झुठलाती आ रही थी लेकिन वह जाने किस जिद में तेजी से बढ़ती ही चली जा रही थी। मित्रों की हिदायतें रह रहकर मुझे अनुशासित कर रही थी कस रही थीं मेरी गति की लगाम... जो उम्र से होड़ लगा रही थी।

एक संकल्प के साथ चली थी मैं दिल्ली से कि दिल्ली से रांची या रांची से दिल्ली जाते-आते हुए यात्रा में अथवा रांची, हजारीबाग के प्रवास में मैं अंक-71 का संपादकीय ज़रूर लिख लूँगी। अस्वस्थता के कारण पिछले दो अंकों की जिम्मेदारी मैंने जबरीमल्ल पारख जी को दे रखी थी। चाहकर भी लिख नहीं पाई थी मैं एक भी शब्द। अस्पताल से निकलते ही अगले दिन भोरे-भोरे पाँच बजे ही हजारीबाग के लिए चल दी थी। रास्ते में एक कतार में साइकिल पर दो-ढाई टन काला-काला कोयला लादे किसान से कोयलाचोर बने आदिवासियों को हमेशा की तरह घाटी की

सीधी चढ़ाई चढ़ते देखा और दिमाग में उभरे उनके वृत्त ने शब्दों का रूप लेकर बोलना शुरू कर दिया। फिर वे लगातार बोलते ही चले गए, जब तक मैं हजारीबाग नहीं पहुँच गई। संभवतः वे शब्द ही बनाते गए मेरे इस संपादकीय की रूपरेखा।

मुझसे वे तथाकथित कोयलाचोर आदिवासी एक साथ कई सवाल पूछ रहे थे और खोज रहे थे जवाब, जो उनके इतिहास और उद्गम से जुड़े थे।

एक सवाल था “भारत में अंग्रेजों के खिलाफ सबसे पहले हम आदिवासियों ने कोल्हन और सांथाल परगना में युद्ध लड़ा... तब 1857 की लड़ाई को आजादी की पहली लड़ाई क्यों कहा गया जो अपने स्वार्थ-हित राजा-रानियों, रजवाड़ों-जमींदारों, नवाबों या बादशाह ने लड़ी थी; जबकि उससे पहले कोल्हन और सांथाल हूल अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह का झण्डा बुलन्द कर चुका था।”

यह सवाल अभी खत्म ही हुआ था कि तत्काल उसने साईकिल के हत्ये को मेरी तरफ मोड़ते हुए दूसरा प्रश्न उछाल दिया “बिरसा ने अंग्रेजों की हुकूमत को चुनौती देने के साथ-साथ, व्यक्तिगत संपत्ति ही नहीं बल्कि राजनैतिक आजादी के साथ-साथ वर्ग-संघर्ष यानी Class War भी छेड़ी। इनसे भी पहले सिद्धो-कान्हू ने अंग्रेजी शासन द्वारा समर्थित और पोषित सूदखोरों के शोषण तथा अंग्रेजी हुकूमत के प्रशासनिक एवं पुलिस-तंत्र की मनमानी के विरुद्ध वर्ग-संघर्ष का बिगुल फूँका था और अंग्रेजी हुकूमत के जुल्म का विरोध करते हुए वे लोग फाँसी पर झूल गए... फिर...”

इसी बीच उसका दूसरा साथी जो पिछड़ गया था आ गया और गुस्से से मेरी तरफ देखते हुए उसने अपने साथी की बात काटते हुए सवाल दागा “क्या कारण है कि जतरा उरांव जिसने रांची में गाँधी से बहुत पहले असहयोग आंदोलन चलाया और ब्रिटिश सरकार को किसी भी किस्म का लगान देने से इंकार कर दिया, का दृष्टान्त मौजूद रहने के बावजूद चर्चा नहीं होती गाँधी की चर्चा होती है... जबकि गाँधी ने उसके बहुत बाद ये आंदोलन शुरू किया? तानाभगतों के रूप में पूरे के पूरे कुड़ुख-भाषी आदिवासी समूह जो उरांव व किसान जनजाति के होते हैं और कहीं-कहीं तानाभगत भी कहलाते हैं, ने सरकार को टैक्स व लगान देना बंद कर दिया था पर असहयोग आंदोलन का प्रणेता गाँधी को क्यों कहा जाता है, जतरा उरांव या ताना भगतों को क्यों नहीं?” तभी मेरे मस्तिष्क में सफेद चादर ओढ़े और घंटियां बजाते परछाईयां घूमने लगीं। उनमें से एकाएक मथुरा तानाभगत का चेहरा उभर आया जो बरसों पहले कैसर से मर गया था। तानाभगत के प्रतिनिधि के रूप में मथुरा तानाभगत मुझसे सवाल कर रहे थे “जब माथा हमारा यानी सर हमारा है तो नीचे के धड़ का मालिक कोई और कैसे हो सकता है?” श्रीप्रकाश की विस्थापितों पर आधारित फिल्म The Fire With in में भी तानाभगत घंटी बजाता है और पूछता है “सिर हमारा है तो धड़ सरकार का क्यों है? जमीन हमारी है तो धरती के नीचे का खनिज का मालिक सरकार क्यों? हमारी साझेदारी उसमें क्यों नहीं?” आदिवासियों

की हजारों एकड़ जमीन खेतों से खदानों में बदल गई लेकिन उन जमीनों के मालिक आदिवासियों का अधिकार उस धन-सम्पदा व खनिजों पर नहीं है, जो दरअसल उनके ही हैं।

कई सवाल पूछे उन लोगों ने मुझसे। फिर वे एक सामूहिक कोरस में मुझसे पूछने लगे “अंग्रेजों के खिलाफ आजादी की लड़ाई पहले आदिवासियों ने छेड़ी और बाद में राजा-महाराजा का सत्तावन घटा और फिर आए गाँधी। फिर क्यों 1857 को आजादी की पहली लड़ाई कहा जाता है और हम कहीं भी दर्ज नहीं। मिसाल दी जाती है ‘बिरसा ने गाँधी की तरह आजादी की लड़ाई लड़ी’ ये क्यों नहीं कहा जाता कि ‘बिरसा की तरह गाँधी ने भी अंग्रेजों से लोहा लिया।’”

आज जब साइकिल पर दो टन कोयला लादे वह किसान, जिसके नंगे बदन पर पसलियां भी गिनी जा सकती हैं जिसकी हंफनी सवालियों का धुआँ ही नहीं फेंकती वह चुनौती भी स्वीकारने लगी है तो लोग घबराने लगे हैं और उनकी सभ्यता के कसीदे पढ़ने लगे हैं। पहले जो उन्हें ‘पगान’ कहते थे, असभ्य कहते थे, राक्षस या दानव कहते थे वे अब उनकी सभ्यता के प्रतीकों को अपनाकर, उन्हें स्वीकारने का ढोंग भरने लगे हैं। उनकी सभ्यता की तारीफें करते हैं, उनकी जीवन-शैली के गीत गाते हैं पर उन्हें अपनाते नहीं हैं उनसे सीखते नहीं हैं केवल चर्चा करते हैं! भारतीय संस्कृति तो इस लिप-सर्विस में अति माहिर है ही ‘वचनं किम् दरिद्रं’ तो उसकी शैली ही है। प्रशंसा करेंगे लेकिन बात अपनी ही थोपेंगे। ‘गाँधी की तरह बिरसा लड़ा’ कहेंगे, ‘बिरसा की तरह गाँधी लड़ा’ इस सत्य को स्वीकार नहीं करेंगे।

सवाल तो बहुत हैं जिनके उत्तर खोजने हैं खोजे भी जाएंगे उत्तर केवल इतना ध्यान रखना है कि आदिवासी अपना नेतृत्व विकसित कर स्वयं अपनी विरासत को बचाएं और अपनी संस्कृति को इतना सुदृढ़ कर लें कि दूसरे उनसे सीखने आएँ, उन्हें शिक्षा देने या प्रशिक्षित करने नहीं! अन्यथा रामदयाल मुंडा जी के शब्दों में “आदिवासी सभ्यता, आदिवासी विचार, आदिवासी संस्कृति हाइजैक हो जाएगी।” आदिवासियों के विचार तो रहेंगे पर आदिवासी ही नहीं रहेगा। वह विस्थापित, कुली, मजदूर बनकर शहर-दर-शहर की खाक छानेगा उनकी औरतें घरों में दारियाँ बनकर आदिवासी सभ्यता की तारीफ करने वालों की उपभोक्तावादी चका-चौंध में कहीं गुम हो जाएंगी।

इस नए वर्ष के बाद मुद्दे तो बहुत उभरे हैं, जिनकी चर्चा की जा सकती है। असम में हुआ नागा कुकी जनजाति द्वारा कार्बी जनजाति का नरसंहार कबिला युद्ध की याद दिलाता है, तो दलितों की सतत् हो रही हत्याएं प्रश्न पूछती हैं “भारत कब सभ्य बनेगा?”

चुनाव की सरगर्मी शुरू है और कई तरह के जोड़-घटाव समझौते समीकरण बन रहे हैं। पता नहीं फ़ासीवादी और सांप्रदायिक ताकतों का खतरा विपक्षी राजनैतिक दलों

को नज़र क्यों नहीं आता कि वह जुड़ने की बजाय 'अमीबा' की तरह अपने में भी टूटते और बिखरते चले जा रहे हैं।

'वर्ल्ड सोशल फोरम' ने मुंबई में एक नयी दुनिया का सपना व्यापक स्तर पर बड़े आवाम के समक्ष प्रस्तुत किया है उसे लोगों ने ग्रहण भी किया है। भले कई संशकित नज़रें भी उठीं फिकरे भी कसे गए पर इन सबके बावजूद संस्थाओं, व्यक्तियों, संघों, संगठनों की एक विशाल भीड़ ने 'एक नई दुनिया' के इस नारे को ग्रहण कर लिया। भले ही इसे नारे की तरह ही ग्रहण किया गया है लेकिन इस नारे ने भीड़ के मन को छुआ जरूर है। आशा इसलिए भी जगती है कि इस भीड़ में भारी संख्या में आदिवासी, दलित, मजदूर, नौजवान, महिलाएँ सभी अपने-अपने मंचों पर अपनी-अपनी सोच के अनुसार एक दुश्मन को पहचानने की भूमिका अदा कर रहे थे और उसके खिलाफ संघर्ष की योजनाएँ या घोषणाएँ अपने-अपने तरीके से करते हुए भी एक वैकल्पिक दुनिया का लगभग एक जैसा सपना देख रहे थे। सपना जहाँ प्राकृतिक संसाधनों पर जनता का अधिकार होगा जहाँ आजादी होगी बराबरी और बंधुत्व होगा और होगी ऐसी जनतांत्रिक व्यवस्था जो सबको न्याय दे सके जिसमें सबकी हिस्सेदारी हो सके। आदिवासी सोच के अनुसार तो ये जनतंत्र 'आदिवासी जनतंत्र' होगा, जिसमें आमसहमति से फैसले होंगे। बहुमत, अल्पमत पर हावी नहीं होगा और अल्पमत व बहुमत के बीच दुश्मनी के रिश्ते न होकर एक सहयोगी के रिश्ते होंगे। दुनिया में पूंजी हावी नहीं होगी बल्कि कल्याणकारी व्यवस्था के निर्माण की सोच मानवीय समाज बनाने के लिए संकल्पित होगी। ये सपना मेरा नहीं उस भीड़ का था, जो अपने-अपने तरीके से एक साथ कई-कई मंचों पर विभिन्न भाषाओं में अपनी बात रख रही थी।



## तहलका भूकंप

गुजरात के भूकंपी झटकों से अभी देश उबर भी नहीं पाया था कि 'तहलका डॉट कॉम' ने देश में ऐसा झटका दिया कि देश एक और भूकंप (राजनीतिक भूकंप) की चपेट में आ गया। सत्ता और संगठन के शीर्ष पर बैठे लोगों को खुलेआम रिश्वत लेते हुए देश की जनता ने देखा। अब जांच का मुद्दा खड़ा करके सत्ता पक्ष चक्षु साक्ष्य को नकारने की कोशिश में ही नहीं है बल्कि खोजी-पत्रकारिता नाम पर भ्रष्टाचार को उजागर करने वाले चंद साहसी लोगों को ही कटघरे में खड़ा करने की साजिश रचने में जुट गया।

दरअसल, इस प्रकरण से एक निष्कर्ष तो साफ निकलता है कि हमारी व्यवस्था में ही कहीं कुछ भारी गड़बड़ी है कि ऐसे प्रकरण कम होने की बजाय बढ़ते ही जा रहे हैं। घूस एक लाख की हो या एक करोड़ की, आखिर है तो घूस ही न। लेकिन विचित्र बात यह है कि इसमें भी व्यक्ति और व्यक्ति में भेदभाव किया जा रहा है। पं. सुखराम के बिस्तर में तीन करोड़ रुपयों का मिलना एक स्वयंसिद्ध प्रमाणित अपराध है और बंगारू लक्ष्मण को देश की जनता ने घूस लेते टी.वी. पर देखा (जिसे उन्होंने खुद स्वीकार भी किया कि उन्होंने एक लाख रुपये लिए हैं), भी प्रमाणित अपराध है लेकिन भाजपा के अधिकारियों के लिए सुखराम निर्दोष हैं, बंगारू लक्ष्मण दोषी। दोषी तो दोनों हैं फिर ये भेदभाव क्यों? क्या इसलिए कि बंगारू दलित हैं?

वोट की राजनीति में लोग समझौते करते हैं, नेता भी और जनता भी। ऐसे तो भारतीय लोकतंत्र में वोट जिन कारणों से प्रभावित होती है उनमें साम, दाम, दंड, भेद के साथ-साथ धर्म, जाति, क्षेत्र तथा भावनात्मक मुद्दे भी हावी होते हैं। तर्क, विवेक या ईमानदारी की कीमत ही नहीं होती। जाति, धर्म, क्षेत्र के नाम का लगाव ही प्रभावी होता है। इसलिए जनता में भ्रष्टाचार का मुद्दा उतना उभर नहीं पाता जितना कि उभरना चाहिए। विपक्ष में रहते हुए भ्रष्टाचार पर हल्ला करने वाले लोग भी, सत्ता में आने पर स्वयं भ्रष्टाचार में इतने गहरे डूब जाते हैं कि उन्हें भ्रष्टाचार, भ्रष्टाचार नहीं लगता। दिवंगत राजीव गाँधी को भ्रष्ट कहने वाले लोग अब स्वयं भी उसी कटघरे में खड़े हैं। वैसे तो अमेरिका जैसे देशों में भी बड़े-बड़े घोटाले होते हैं। वहाँ भी एक सिनेटर को चुनाव जीतने के लिए साठ-सत्तर मिलियन डॉलर तक खर्च करने पड़ते हैं, इसके बावजूद वहाँ की जनता, जो पढ़ी-लिखी है, में से केवल 40-45 प्रतिशत लोग ही वोट डालते हैं। बाकी लोग सिर्फ तटस्थ ही नहीं बल्कि इसमें रुचि ही नहीं

लेते, जबकि क्यूबा जैसे छोटे देश में बिना खर्च किए 95 प्रतिशत लोग वोट देते हैं। हिन्दुस्तान की भी खस्ता हालत ही है। चुनाव इतना अधिक खर्चीला हो गया है कि आम आदमी, खासकर ईमानदार आदमी तो चुनाव लड़ने का साहस ही नहीं कर सकता। आज विधायक या सांसद बनना समाजसेवा का प्रतीक नहीं बल्कि कैरियर, पेशा या धंधे का हिस्सा बन गया है। उस कैरियर को हथियाने के लिए भ्रष्टाचार और अपराध आवश्यक हो गया है। विचार इस पर होना चाहिए कि सत्ता के इन प्रतिष्ठित और गरिमामय आसनों का अवमूल्यन कैसे रोका जाए? व्यवस्था कैसी हो कि भ्रष्टाचार रुके? पारदर्शिता कैसे पनपे?

मैं 15 मार्च को बिहार पार्टी के सचिव, गणेश शंकर विद्यार्थी के साथ पटना हटिया एक्सप्रेस से रांची जा रही थी। कई विधायक और उनके समर्थक, जिनमें भाजपा के विधायक भी थे, उसी गाड़ी से चल रहे थे। उनकी आपसी गुप्तगू का एक नमूना पेश करना चाहूँगी जो दिल दहला देने वाला है।

एक महिला यात्री “तहलका ने खूब हड़कंप मचाया है नेताओं में। देखो तो कैसे पैसा ले रहे थे बंगारू जी! गड्डी गड्डी नोट लेकर रख लिए। इन सब लोगों को सजा तो मिलनी ही चाहिए।”

भाजपा विधायक “सो तो ठीक है, बोलने का मुँह नहीं रहा अब हमारा। लेकिन यार (बगल में बैठे दूसरे विधायक को सम्बोधित करते हुए) पैसा तो सभी लेते हैं लेकिन तरीके से लिया जाता है। पैसा लेना था तो अपने खास आदमी की मार्फत लेना चाहिए था बंगारू जी को।”

यानी आज के विधायक की राय में घूस लेना अपराध नहीं है बल्कि उसे इतना चालाक होना चाहिए कि वह पकड़ा न जाए। यह मानसिकता है विधायकों की। दूसरे विधायकों को भी कई बार ऐसी चर्चा करते मैंने सुना है ‘प्रेक्टिस कैसी चल रही है?’ जब दलाली और भ्रष्टाचार प्रैक्टिस बन जाए, प्रतिष्ठाजनक कार्य बन जाए, तो उसे खत्म कैसे किया जा सकता है? राष्ट्र के समक्ष यह एक गंभीर शोचनीय प्रश्न है!

बातें तो बहुत हैं लिखने को, मुद्दे भी बहुत हैं। झारखंड में आठ लोग अपने जल, जंगल, जमीन और संस्कृति को बचाने के अपराध में हिन्दुत्ववादियों की पुलिस द्वारा भून दिए गए। गुजरात में भूकंप की राहत राशि और सामग्री, हिन्दू राहत और मुसलमान राहत के रूप में बांटी गई। हिन्दुत्ववादियों का गुप्त फरमान आया कि पुराने कपड़े मत भेजो, केवल नए कपड़े भेजो यानी राहत गरीबों के लिए नहीं, बड़े लोगों के लिए चाहिए थी।

देश में यह समझदारी पैदा की जानी ज़रूरी है कि सत्ता पक्ष और विपक्ष दोनों के अवमूल्यन को कैसे रोका जाए? इस भ्रष्ट व्यवस्था को कैसे बदला जाए जो भ्रष्टाचार की जननी है। दरअसल अंग्रेज शासकों ने यह व्यवस्था अपनी सुविधा के लिए भारत की गुलाम जनता पर थोपने और उन पर शासन करने के दृष्टिकोण से

बनाई थी। अब यह एक आजाद मुल्क की स्वाभिमानी जनता के विकास या कल्याण के लिए प्रासंगिक नहीं है। त्रासदी यह है कि ब्रिटीश कालीन व्यवस्था आज भी बदस्तूर जारी है। फर्क है गोरे विदेशी की जगह काले देशी शासक का।

हमारे देश के संविधान में सभी प्रकार के विरोधों, प्रतिरोधों, दबावों और हस्तक्षेप के बावजूद इसके निर्माता बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर ने इसमें सर्वजनों के लिए संवेदनशील, कल्याणकारी, लोकहितकारी और समतामूलक प्रावधान किए हैं, किंतु इस संविधान को लागू करने वाला निकम्मा हो तो इसमें किसका दोष? यहाँ तो वही चाटुकार, जातिवादी, सामंती, धार्मिक कट्टरता से लैस सांप्रदायिकता की पक्षधर सवर्ण मानसिकता की मारी नौकरशाही ही सत्ता पर हावी रही है। नेतृत्व भी दुलमुल, लुंजपुंज ही रहा जो दोहरा चेहरा, दोहरा आचरण अपनाए रहा या यूँ कहा जाए कि वह भी हिपोक्रेट पाखंडी ही रहा है। वह कथनी में प्रगतिशील एवं आधुनिक या वैज्ञानिक नजर आता है पर करनी में परंपरावादी मध्ययुगीन सोच एवं अधिनायकवादी सामंती सोच का पोषक है। यही दोहरा आचरण भ्रष्टाचार को स्वीकृति प्रदान करता रहा है। वही किसी न किसी रूप में स्वजनों के लाभ के लिए उसे उचित ठहराता रहा है या उसे सुरक्षा प्रदान करता रहा है। इनका प्रत्यक्ष परिणाम आज जनमानस में भ्रष्टाचारी के खिलाफ जब आक्रोश उठा है, तो वही सत्ता-सुविधा वर्ग एक प्रति-मुहिम चलाकर भ्रष्टाचार पकड़ने वालों के तौर तरीकों पर निरर्थक बहस छेड़ रहा है और जनता की जन-हितकारी चेतना और आक्रोश को शान्त करने हेतु दोनों चालें चल रहा है। इस धिनौनी साजिश के खिलाफ देश की जनता, खासकर बुद्धिजीवी वर्ग को सजग, सतर्क, सावधान रहना पड़ेगा ताकि भ्रष्टाचार को प्रोत्साहित करने वाली व्यवस्था को खत्म कर पारदर्शिता कायम की जा सके।

देश के बजट में ग्लोबलाइजेशन के लिए द्वार खोलकर देश के उद्योग और रोजगार को खत्म करने का संकेत तो दे ही दिया है, साथ ही इस कृषि-प्रधान देश में किसानों को आत्महत्या करने के लिए भी पूरा इंतजाम कर दिया है। दूध और मुर्गी पालन में लगे लाखों लोग छह रुपये किलो दाम के विदेशी दूध और बारह रुपये किलो मुर्गी की टाँग के मुकाबिल कैसे टिकेंगे? यह प्रतिपक्ष प्रश्न स्वदेशी की नकली मुहिम चलाने वालों को देना होगा जिन्होंने एन. रान से समझौता कर महाराष्ट्र की पूरी अर्थव्यवस्था को चरमरा दिया है।

युद्धरत आम आदमी, अप्रैल-जून, 2001

## जनतंत्र तौलने के बटखरे कितने सक्षम?

पूरे देश में चुनाव का माहौल है। इस चुनावी घुड़दौड़ में कौन जीतेगा और कौन हारेगा, इस पर दूरदर्शन, अखबार, बुद्धिजीवी और राजनेता अपने-अपने कयास लगाने में जुट गए हैं और अपनी पसंद के लोगों की सरकार बनाने का दावा कर रहे हैं। जिस तरह मजदूरों की यूनियन की मान्यता के लिए जाँच (Varification) के समय हर एक यूनियन अपनी सदस्यता बढ़ा-चढ़ाकर बताती है पर अगर सभी यूनियनों के दावों की संख्या जोड़ी जाए तो वह उस कारखाने के मजदूरों की कुल संख्या से चार गुणा अधिक हो जाएगी, ठीक उसी तरह की ये चुनावी घोषणाएँ हैं। लेकिन हर बार जनता को दावेदारों की घोषणाओं से प्रभावित नहीं किया जा सकता। ऐसे मुझे वोट माँगने वाले प्रचारक जत्थों या व्यक्तिगत संपर्क करने वाले प्रचारकों के कुछ अनुभव सुनने को मिले हैं और मैंने खुद भी कुछ देखा है। बड़ी सभाओं की बनिस्पत व्यक्तिगत संपर्क में कुछ ज्यादा जानने सुनने और देखने को मिलता है।

कामकाजी मध्यमवर्गीय महिलाएँ, जो कहीं-कहीं, कुछ-कुछ अपना व्यक्तिगत मत रखती हैं और व्यक्त भी करने लगी हैं, को छोड़कर गाँव की महिलाएँ या तो प्रचारकों की बात को चुपचाप सुनती हैं या बगल में खड़े पतियों, बेटों अथवा पिताओं की तरफ देखती रहती हैं कि वे क्या कहते हैं। अंत में एक अजीब-सी व्यंग्य भरी मुस्कान से वे प्रचारकों को घूरने लगती हैं...। एकाएक स्त्रियों के दल से, पीछे छिपी कोई महिला सवाल दाग देती है “वोट देने से हमें क्या मिलेगा? हम नाय देबो वोट। हर बार ठग-ठग के वोट ले लेते हैं फिर घर के नहीं आते। आप लोग वोटवा खातिर न आए हो इहाँ इतनी दूर पैदल चलके। कितना कष्ट हुआ कादो (कीचड़) में चलने से?” बगल से कोई लड़का टिटकारी मारता है।

“अमुक बाबू वोट के बख्त आए थे फिर जीतने पर घुरकर नहीं आए ही नहीं। अभी तक ट्रांसफर्मर जला ही पड़ा है...कैसे पढ़ावें बचवन के।” भीतर से बाहर आता हुआ कोई बुजुर्ग उदास टिप्पणी करता है। “पिछले चुनाव से पहिले ही खराब हो गा था।”

फिर कहता है “चलो पहली बार आए हैं ये, इनकी भी सुन लो।”

सर्वहारा दलितों की बस्ती में पहुँचने पर जवाब मिलता है “हमने तो वोट का बहिष्कार कर दिया।”

“क्यों?”

“सभै ठगे है हमनीं के।”

दूसरा कहता है “हम मजूरी करेंगे, न वोट देंगे? मजूरी न करबे तो की खाबे?”

औरतें डट जाती हैं “वोट नहीं देंगे किन्हीं को भी। चापाकल हैय्ये नइ, लाल कार्ड मिलतै नइ, न वृद्धा पेंशन मिले है। पक्के मकान वालों को लाल कार्ड मिले है...कमाने वालों को वृद्धा पेंशन। जिकरा कार्ड मिलल भी है, उकरा भी पूरा राशन नइ मिले है!”

ढेर सारी शिकायतें करतीं। बूढ़ी-बूढ़ी, बिना दाँत वाली, अधनंगी औरतों की कतार लग जाती है। ये सब वृद्धा-पेंशन पाने की हकदार हैं पर वंचित हैं। महिलाओं के प्रचारक जत्थे को देखकर कुछ तो उन्हें ही नेता समझकर पाँव छूने लगती हैं। प्रचारक जत्थे के सदस्य उन्हें भारत सरकार की गलत आर्थिक नीति, मुद्राकोश से लिए कर्ज और उसकी शर्तों के बारे में बताते हैं, जिसके चलते उनकी कल्याण योजनाओं में कटौती हो रही है। कुछ प्रचारक दूसरे दलों को दोषी ठहराते हैं। वाजपेयी का चीनी घोटाला और उनकी सरकारी गफलत के कारण कारगिल में हुई शहादत, जिसके बिना भी काम चल सकता था, के बारे में बताते हैं। कोई चुनाव जीतने के बाद सभी समस्याओं को हल करने का आश्वासन देते हैं। इस बार सतर्क ग्रामीण छाछ को दूध समझ, फूँक-फूँक कर पीने के अंदाज में शर्तें रखते हैं “वोटवा से पहले ही सब मिले के चाही, ट्रांसफर्मर बने के चाही, सड़क बने के चाही।”

प्रचारक क्या कहें? वे वादा नहीं कर सकते, वे उन्हें आश्वासन भी नहीं दे सकते। वे जानते हैं जब तक वे (ग्रामीण) स्वयं संगठित होकर यह सब हासिल करने के लिए तैयार न हों, जीतने पर भी कोई अकेले इस वर्तमान व्यवस्था में सब की जरूरतों की पूर्ति नहीं कर सकता। वे टाल-मटोल करते हुए आगे बढ़ने का उपक्रम करते हैं। उनकी संगठन और आंदोलन की बात सुनकर कुछ नौजवान उनके साथ हो लेते हैं और कुछ बुजुर्ग कहते हैं “अच्छा हमार नाम भी दर्ज कर ल्यो।”

तब नारे लगने लगते हैं।

जहाँ भी जाओ, जनता का मुख्य मुद्दा उनके गांव का विकास यानी बिजली, पानी, सड़क, स्कूल है। गरीबी-रेखा से नीचे की जनता का मुद्दा लाल कार्ड, वृद्धा पेंशन है और नौजवानों का मुद्दा रोजगार है। ज़मीन से जुड़े किसानों की उद्योगों में गई जमीन के बदले, नौकरी व पुनर्वास के मुद्दे हैं। पर इन सब ज्वलंत मुद्दों के बावजूद भी सभी वोट अंत समय में जाति के आधार पर अलग-अलग खेमों में बंट जाते हैं। कुछ वोटर जीतने वाले का इंतजार भी करते रहते हैं कि हवा का रुख देखकर पासा पलटेंगे तो अल्पसंख्यक वोटर भाजपा को हराने वाले उम्मीदवार की खोज करते रहते हैं। यानी दलों व उनकी नीतियों से अधिक व्यक्ति या स्थानीय

मुद्दे ज्यादा हैं। किसी सिद्धांत, नीति या किसी एक कारण से निर्धारित नहीं हैं वोट। केवल अल्पसंख्यक ही सांप्रदायिक ताकतों को हराने के लिए सांप्रदायिकता के मुद्दे पर एकमत हैं।

यह अलग बात है कि किसी दल का उम्मीदवार जातीय समीकरण में फिट बैठने के कारण जीतता नजर आता हो, लेकिन जनतंत्र के तराजू पर अगर हम जनता की समझ को तोलेंगे तो जनतंत्र नाकामयाब होता नजर आता है। यह हमारे 52 वर्ष की आजादी की सबसे बड़ी विफलता है। जनतंत्र में पार्टियों की नीतियाँ मुख्य मुद्दा होती हैं। ये नीतियाँ विकास के सब मुद्दों से कितना जुड़ी हैं तोलने के ये बटखरे जनता के हों तो जनतंत्र को सफल माना जा सकता है लेकिन भारत की जनता उसे व्यक्ति से यानी उम्मीदवार और जाति से जोड़कर देखने की आदी है। केवल अल्पसंख्यक-वर्ग ही एक मुद्दे पर अडिग है वह है उसकी सुरक्षा का मुद्दा। इस देश की मिट्टी में उसे अपना समझने और स्वीकारने का मुद्दा और सब से ऊपर उसके अपने विकास और रोजगार का मुद्दा। सांप्रदायिकता के मुद्दे को मुख्यतः बिहार में लालूप्रसाद यादव, उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव और पूरे देश में वामपंथी दल उठा रहे हैं। अन्य मुद्दे देश के पैमाने पर गौण हैं। वहां केवल जाति और व्यक्तियों से जुड़े मुद्दे व्याप्त हैं। भाजपा, राजग और कांग्रेस प्रधानमंत्री कौन बने वाजपेयी या सोनिया का मुद्दा उछाल रहे हैं तो शरद यादव और मुलायम की पार्टियाँ सोनिया न बने, क्योंकि वह विदेशी है पर जोर दे रहे हैं। वामपंथी दलों का मुख्य मुद्दा है “साम्प्रदायिक शक्तियों को हराना है और देश को बचाना है।”

यही मुद्दा लालू प्रसाद का भी है। हालाँकि मुलायम सिंह यादव भी इस मुद्दे पर जोर देते हैं, लेकिन वे सोनिया का न आना भी उतना ही जरूरी मानते हैं। भाजपा का सिर्फ एकमात्र मुद्दा है सत्ता में आना। उसके लिए किसी भी हद तक जाना उसे मंजूर है।

शायद सत्ता की इसी ललक के तहत तो जब चुनाव की इतनी बड़ी सरगर्मी बिहार समेत पूरे देश में चल रही है और पहले और दूसरे चक्र में वोट बहिष्कार करने वाले कई हत्याएं कर आतंक पैदा करके रहे हैं, तो दूसरी तरफ बिहार के छपरा जिला के सारण नगर में नफरत की राजनीति पैदा करनेवाली साम्प्रदायिक शक्तियों ने एक वीभत्स खेल खेला। रूबी नामक एक ईसाई नन को नंगा कर घुमाया और उसे अपना पेशाब पिलाया। इसके पीछे यह कहा गया कि वह दलितों का धर्मांतरण करा रही थी। उन दलितों का जिन्हें हिन्दू अछूत मानकर रोज़ अपमानित ही नहीं करते बल्कि नरसंहार का शिकार भी बनाते हैं। इस नन के अपमान के पीछे औरत को अपमानित करने की भावना नहीं बल्कि ईसाइयों और अन्य अल्पसंख्यकों के प्रति सुनियोजित ढंग से फैलाई जा रही घृणा है। प्रारम्भ से ही हिन्दुत्ववादी चुनाव के समय या उससे पहले से ही धर्मांतरण के सवाल को लेकर एक हौवा खड़ा करते आ रहे

हैं। इस प्रकार एक ओर तो वे अल्पसंख्यकों को अपमानित कर उन्हें आतंकित करना चाहते हैं ताकि हिन्दू दलित जमात, जो हिन्दुत्ववादियों के जातीय जुल्म से बचने के लिए धर्मांतरण करती है, डर के मारे धर्मांतरण न करे या कोई पादरी या नन इन्हें निजात दिलाने की हिम्मत न करे, दूसरी ओर ऐसे कांडों से धर्मांतरण के नाम पर वोटों को भी प्रभावित करते हैं। सारण की घटना के पीछे यही मनोवृत्ति है। मनुष्य को वोटों में बदल दिया है इन धार्मिक अखाड़ेबाजों ने। यह एक गंभीर विकृत प्रवृत्ति है। दलितों के प्रति अपना व्यवहार सुधारने की बजाए, दलितों को मिलने वाली राहत के दरवाजे भी बंद कर देना दलितों का दमन है। सत्ता के लिए ये सत्ता-लोलुप कुछ भी कर सकते हैं।

इस घटना का एक और चिंताजनक पहलू है। नन नंगी होती है सारी भीड़ देखती है कोई सामने नहीं आता। जनता की कैसी नैतिकता है यह? गुनाह करने वाले तो कठमुल्ला हैं, फासिस्टी प्रवृत्ति के हैं या यूं कहें धर्मांध हैं अपराधी हैं, लेकिन जनता जो देख रही है वह प्रतिकार क्यों नहीं करती? इतनी कमजोर क्यों बनी रहती है? यह चिंता का विषय है कि जब भी किसी औरत या अल्पसंख्यक अथवा दलित पर अन्याय होता है तो जनता मूकदर्शक बनी रहती है। यही जनता दंगों में भी भाग लेती है लूट में भागीदारी, करती है और बलात्कार में साझेदारी। कौन-सी जनता होती है यह? किस संस्कृति की अलंबरदार है यह जनता? यह एक अनुत्तरित प्रश्न है जो आज भी खड़ा है?

दरअसल, भारत की जनता आज भी खुद को सामंती प्रवृत्ति से मुक्त नहीं कर पाई। अमीर, गरीब और मध्यम, सभी वर्ग की जनता अंधविश्वासी है। धर्म के नाम पर, बर्बर होने में वह आगे रहती है। ऐसे यह तीनों प्रवृत्तियाँ खतरनाक हैं। आमतौर पर डरपोक जनता भाग जाया करती है अथवा छिप जाया करती है लेकिन सुबकती ज़रूर है मगर उस दिन सारण में कोई सुबका भी नहीं। चुनाव के इस माहौल में कमजोर से कमजोर जनता भी एक काम तो कर ही सकती थी कि वह सांप्रदायिकता, धर्मांधता और घृणा के इन गिद्धों को वोट न देकर उन्हें परास्त कर दे। अफसोस इसी बात का है कि जनता इन मुद्दों पर चैतन्य नहीं होती। यदि जनतंत्र को भेड़ों-सी भीड़ के मत का पर्याय नहीं बनाना है, तो जनता को प्रतिक्रिया तो व्यक्त करनी ही होगी। नन नंगी घुमाई जाती रही उसे सबके सामने पेशाब पिलाया गया, किसी ने कोई भी प्रतिक्रिया नहीं की। ज़िंदगी का इतना डर? कहाँ है भारतीय नैतिकता? क्या जवाब है? भारतीय नैतिकता भारतीय संस्कृति के झंडाबरदारों के पास? दरअसल हिन्दू संस्कृति हमेशा से ही बर्बर रही है यह केवल अपनी जाति/जमात के प्रति सहिष्णु है जाति के बाहर वालों के साथ सदैव शत्रुवत रहना ही इस संस्कृति का मूलमंत्र है। भले स्वार्थवश ये बाहर वालों या दूसरी जाति के लोगों को गौरवान्वित करते रहे हैं पर इन्होंने उन्हें बराबरी का सामाजिक दर्जा कभी नहीं दिया।

एक बंगला कहावत है 'जत्तो दोष जट्टो घोष'। सभी गलतियों का जिम्मेवार एक ही व्यक्ति को ठहराना पूर्वाग्रह से ग्रसित मानसिकता का प्रतीक होता है। परिवार में भी अपने दोष घर के किसी एक सदस्य पर मढ़कर, बुजुर्ग भी कभी-कभी पल्ला झाड़ लेते हैं। यही हो रहा है आज बिहार के संदर्भ में। राज्य की सम्पूर्ण छोटी बड़ी घटनाओं को लालू प्रसाद यादव पर मढ़ दिया जाता है लेकिन लोग यह भूल जाते हैं कि बिहार का विशाल पिछड़ा और दलित-वर्ग, जिसे निम्न जातीय दर्जा दिया जाता है वो उच्च जातियों के सिर्फ आर्थिक शोषण का ही शिकार नहीं रहा बल्कि उनके जातीय बर्बरता का शिकार भी रहा है और आज भी है। जातीय उत्पीड़न के खिलाफ अगर किसी ने सर उठाने की हिम्मत की, यानी यदि पिछड़ों व दलितों ने अपनी जातीय अस्मिता के बल पर स्वाभिमान से रहने की कोशिश की, तो उसका श्रेय बिहार में लालू प्रसाद यादव को ही जाता है, खासकर उनकी दो टूक भाषा में जवाब देने की शैली। विकास का मुद्दा बिहार में न राजग का है, न राजद का और न ही भाजपा और कांग्रेस का। राजग और भाजपा का एकमात्र मुद्दा है 'लालू हटाओ' इसके बरक्स राजद और वामपंथी दलों का मुद्दा है 'सांप्रदायिक शक्तियों को हटाओ'।

यह तो एक प्रमाणित तथ्य है कि बिहार में सामंती लॉबी ऊंची जातों का ही प्रतिनिधित्व करती है। अधिकांश बड़ी जाति वाले ही भूपति हैं, इसीलिए उन्होंने अपनी सेनाएं भी बना रखी हैं और सब-के-सब पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर लालू और राबड़ी देवी पर निशाना साधे हुए हैं। चुनाव के दौरान उग्रवादियों ने कश्मीर में हत्याएं कीं, आंध्र प्रदेश में भी हत्याएं हुईं पर हाईलाइट केवल बिहार की बात ही हुई राबड़ी सरकार बदनाम की गई आखिर क्यों? वहाँ के राज्यपाल नियम के विपरीत किसी के तबादले की सिफारिश सरकार के पास नहीं भेजते। भूसामंतों की एक पूरी-की-पूरी लॉबी है, जिसे लालू जी से खतरा महसूस होता है। हालांकि लालू/राबड़ी सरकार ने भी बिहार में भूमि-सुधार कानून लागू नहीं किया, न ही उन्होंने सीमा से अधिक भूपतियों की जमीनें छीनकर भूमिहीनों में बांटी है, पर चाहे जो भी हो भूमि बांटी हो या नहीं, बिहार का विकास किया हो या नहीं (किसी दूसरे मुख्यमंत्री ने भी नहीं किया), लेकिन लालू और राबड़ी की सरकार ने सांप्रदायिक शक्तियों को दंगे करने से रोका है। उन्होंने बिहार की दबी, कुचली, पिछड़ी और दलित जातियों को जातीय दंभ फैलाने वाले उच्च जातीय सामंतों के खिलाफ बोलना, डटना और अड़ने का हौसला दिया है हिम्मत दी है।

वह जो पिछड़ा और दलित जमीन तक झुककर, पांव छूकर 'सलाम बाबू साहब' कहता था या किसी 'लिख-लोड़ा पढ़-पत्थर' ब्राह्मण को 'पांव लगी बाबा जी' कहता था, अब ऐसा करने से इंकार करने लगा है। जिनकी बूढ़ी औरतों को उच्च जातियों के पांच साल का बच्चा 'रे ते पाड़ता' था (अपमानजनक तरीके से बुलाता



था) अथवा उन्हें 'राड़' कहकर हेय दृष्टि से देखता था, दो-तीन 'पैला' (पाओ) खेसारी के सत्तू पर दिन भर खटाता था बेगारी करवाता था, अब वह ऐसा नहीं कर पाता। यह इसलिए कि लालू सरकार ने मंडल रिपोर्ट को लागू करने की तेज मुहिम के बाद पिछड़ी दलित जातियों को एक संदेश दिया, वह था कि उनकी अपनी अस्मिता (पहिचान) है। इस एहसास के कारण उन तथाकथित निम्न जातियों के जो तगड़े नौजवान अपने ही स्वजातियों या निम्न तबकों को दबाने के लिए ऊँची जातियों की बराहिलगिरी करते थे या उनके लटैत बनते थे अथवा उनके कहने पर वोट लूटते थे, वे सब के सब अब ऊँची जातियों से अलग होकर, मंडल समर्थकों की जमात में शामिल हो गए और वे 'वोट-लुटवा' की जगह 'वोट-बचावा' बनकर वोट लूटने वालों का मुकाबला करने लगे हैं। पिछले चुनाव में टी.एन.शेषन से ज्यादा, इसी मानसिकता ने काम किया था। बिहार में अभी भी यह मानसिकता बरकरार है। जहाँ तक ऊँची जातियों के विरोध का सवाल है, भले पिछड़े समाज में भिन्न-भिन्न जातियों के आधार पर एक संकीर्ण ध्रुवीकरण हो रहा है, जिसका एक हिस्सा राजग और दूसरा हिस्सा जनता दल में है लेकिन अगड़ों के सवाल पर अथवा अपने जातीय उम्मीदवार (जीतने वाले) के सवाल पर वह तेजी से डोल जाता है।

जहाँ भी आंदोलन तेज़ हुए हैं, वहाँ भी यह पिछड़ा और दलित तबका, चाहे वामपंथी हो या समाजवादी या जहाँ सामाजिक न्याय की समझ पैदा हो चुकी है अथवा नक्सलाइटों का कब्जा है आज सिर उठाकर चलने लगा है। यह तबका अपना हिस्सा, हक और जमीन मांगने लगा है या उस पर कब्जा कर रहा है। इससे यह दंभ पालने वाली सामंती जमातें भयभीत होकर कहीं चुप हो रही हैं, कहीं भाग रही हैं, तो कहीं सेनाएं बनाकर नरसंहार कर रही हैं, नहीं तो बयानबाजी का हथकंडा अपनाती हैं। इन्हीं सामंतों की जमात हर घटना की जिम्मेवारी राबड़ी या लालू सरकार पर थोपती है, जबकि हर घटना का कारण यही सामंती मुनाफाखोर, सूदखोर या दादागिरी करनेवाली जमात ही होती है। प्रशासन और मीडिया में इनके जातीय एजेंट अभी भी हावी हैं। मीडिया तंत्र कभी उनके कुकर्मों को नहीं उछालता। इसी चुनाव (1999) में बिहार जैसी ही घटनाएं आंध्र प्रदेश में भी घटी थीं किंतु चन्द्रबाबू नायडू पर किसी ने कोई टिप्पणी नहीं की। किसी ने एक शब्द नहीं बोला। चन्द्रबाबू नायडू पर न नेता, न अफसर और न जनता कुछ कहा, न ही मीडिया ने हल्ला मचाया। यह विभेद क्यों?

खैर, यह हाल की घटनाओं का कुछ विश्लेषण है। लालू के घोटालों की चर्चा बार-बार विपक्ष द्वारा उछाली जा रही है। नेहरू के समय कृष्णाचारी, और कृष्णा मेनन पर आरोप लगे थे। तब से लेकर आज तक एक लंबी फेहरिस्त है आजाद भारत में हुए घोटालों और घपलों की। राजीव सरकार का बोफोर्स घोटाला, जनता दल की सरकार के समय राम मंदिर के लिए जमा किये गये अकूत धन और सोने-चांदी की

ईंटों का मामला जिसका हिसाब मांगने और उनके दलों से आयकर मांगने वाले, आयकर टैक्स अधिकारी का तबादला कर दिया जाना प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त नरसिंह राव का हर्षद और हवाला, सुखराम का टेलीफोन घोटाला, कल्पनाथ राय का चीनी घोटाला, भाजपा और शिवसेना का मात्र तेरह दिनों के लिए सत्ता में आने पर देश हित को ताक में रखकर विवादित बहुराष्ट्रीय कंपनी एनरॉन से समझौता करना, वाजपेयी सरकार बनते ही नमक, आलू व प्याज घोटाला होना या कडुवा तेल में जहर मिलाने वाले व्यापारियों की जमानत दिलाने के लिए दिल्ली की भाजपा सरकार द्वारा जज बदल दिया जाना, सूचना तकनीक के क्षेत्र में छह हजार करोड़ की बजाय दो सौ करोड़ में समझौता करना, कारगिल युद्ध के दौरान पाकिस्तान से चीनी खरीदकर पाकिस्तानी खुफिया एजेन्सी आई.एस.आई. को हमारे सेना के जवानों की हत्या करने हेतु हथियार खरीदने के लिए डॉलर उपलब्ध कराना। ऐसे कितने घपले गिनाएं? इनमें से कुछ को तो भ्रष्टाचार नहीं देशद्रोह के मामले भी कहे जा सकते हैं। मगर मीडिया को सिर्फ 'घोटाला ही याद है। दरअसल, अब घोटाले-हवालों का अर्थ बदल गया लगता है। इस चुनाव में भ्रष्टाचार का कोई मुद्दा नहीं रह गया। मीडिया लोग या बुद्धिजीवी लोग चुनाव में या आगे-पीछे इन सबकी चर्चा नहीं करते। अब तो प्राख्यात घोटाले बाज हर्षद मेहता भी मीडिया मैन हो गए हैं, भले उन्हें हाई कोर्ट ने तीन साल की सजा दी है। अब वे एक अखबार का कॉलम लिखने लगे हैं। अब उन्हें कौन छू सकता है?

दरअसल, भ्रष्टाचार अब एक रुतबे का प्रतीक और चतुराई का पर्याय बन चुका है, इसलिए एक जैसी जमात के लोगों में से सिर्फ एक पर ही उंगली उठाई जाती है तो आम जनता सकते में पड़ जाती है या संशकित हो उठती है। लालूप्रसाद यादव को ही चिह्नित करके दोष मढ़ना, उन्हें लालू के और करीब ले जाता है उससे दूर नहीं करता। उन्हें लालू के घोटाले में सब मीडिया वालों का दुराग्रह और पूर्वाग्रह का आभास देता है। हालांकि वामपंथियों को छोड़कर सब पार्टियों के नेता भ्रष्टाचार की जद में आ चुके हैं फिर सिर्फ लालू पर ही प्रश्न क्यों दागे जाएं जनता यह पूछती है और फिर स्वयं ही जवाब देती है “वे पिछड़े हैं न! उन्होंने हमें बड़ी जातियों के शोषण के खिलाफ खड़ा होने की ताकत दी है न, हमें इज्जत दी है न इसीलिए न?”

बिहार में यह समझा जा रहा है कि आज देश के लिए सबसे ज्यादा जरूरी है सांप्रदायिक शक्तियों और दंगों से सुरक्षा। भागलपुर में दंगे में मारे गये लोगों की लाशों को काट कर उन्हें जमीन में गाढ़ दिया गया था और वहां गोभी लगा दी गई थी। अब लालू/राबड़ी राज में ऐसा नहीं हो पा रहा, इसीलिए आम जनता की नजर में लालू ज्यादा जरूरी हैं। वे छद्म धर्म-निरपेक्ष हैं या कट्टर धर्मांध पिछड़ों और दलितों के लिए उच्च जातीय सामंतों के जुल्म से निजात जरूरी है, जो उन्हें

लालूप्रसाद यादव की ठेठ उनकी अपनी बोली में की गई हुंकार से मिलती है या फिर वामपंथी आंदोलन अथवा नक्सलाइटों के हथियारों से! नक्सलाइट तो वोट का बहिष्कार करते हैं लेकिन जो जनता वोट देना चाहती है और आंदोलन या हथियार का रास्ता नहीं अपना पाती, उनके लिए सामाजिक न्याय आत्म-सम्मान और इज्जत प्रतिष्ठा के लिए उन्हें लालू ही नज़र आते हैं। अन्य दल भी उसकी जगह लेने में सक्षम नहीं हो पाए हैं।

कारण चाहे जो भी हो, वामपंथी दल भी वैसा विकल्प नहीं बन पाया। वे यहाँ अभी भी पाकेट्स के रूप में हैं जो संसदीय प्रणाली में पर्याप्त नहीं है। भाजपा राजद का विकल्प नहीं हो सकती बिहार में, राजग भी नहीं जब तक वह भाजपा से जुड़ी हैं। वामपंथी विकल्प के लिए वामपंथी एकता की सख्त ज़रूरत है।

‘सरोज वशिष्ठ’ की हत्या उनके पति प्रेम सिंह ने इसलिए कर दी कि उनकी ख्याति एक मजदूर किसान महिला नेत्री के रूप में हरियाणा की परिधि लाँघ गई थी सुनकर मैं स्तब्ध रह गई। उनके साथ उनकी छः वर्षीय पुत्री ‘पूजा’ की हत्या भी उस निर्मम पिता ने कर दी चूँकि उस बच्ची ने मां की हत्या का विरोध किया था। यह हत्या घर की परिधि लाँघ कर अपने सुख त्याग कर समाज के हित में निकली महिला जमात के लिए सदमे से ज्यादा एक चुनौती है। केवल शोक प्रस्ताव पारित कर ‘सरोज वशिष्ठ’ जैसी बहादुर, जुझारू महिला युवा नेत्री के साथ किए गए इस अन्याय से हम अपनी जिम्मेवारी पूरी हुई नहीं समझ सकते, क्योंकि ये बर्बरता उस महिला के साथ हुई है, जो महिलाओं पर हो रही बर्बरता के खिलाफ संघर्षरत थी। यह तो पूरी सजग महिला जमात की लड़ाई है। समाज में आगे आने वाली महिलाएँ दूसरों के लिए लड़ने वाली महिलाएँ किस कदर अपने घर के मोर्चे पर ही विफल किए जाने की साजिश और पस्त-परास्त किए जाने के वार झेल-झेल का भी डटी रहती हैं और अन्त में वे हत्या के हथियार से खत्म कर दी जाती हैं इसका जीता-जागता उदाहरण है ‘सरोज वशिष्ठ’। सरोज एक कारखाने में कामगार महिला की हैसियत से उठकर मजदूर जमात की नेता बनी। वह हरियाणा ‘सीटू’ की सदस्या और हरियाणा कामकाजी महिला की संयोजिका भी थी। केंद्रीय स्तर पर कामकाजी महिला कार्यकारिणी समिति की सदस्या भी बन गई थीं। कॉमरेड सरोज वशिष्ठ अपने उस हँसते हुए जोश से भरे चेहरे और आत्मविश्वास और आशा से भरी चमकती आँखों और तेज, जोशीली आवाज़ से आह्वान करती हुई आज भी हमारे सामने खड़ी दिखती हैं। उनका ये चेहरा कभी भुलाया नहीं जा सकता। उनके विद्रोही तेवर और संघर्ष हमारे लिए प्रेरणास्रोत बने रहेंगे। उनकी प्रेरणा लेकर समाज में और ‘सरोज वशिष्ठ’ पैदा हों, यही हमारी कामना है और इसी मुहिम को चलाना हम उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि मानते हैं।

सरोज वशिष्ठ अमर रहें।

अरसे से घर में कलह को झेलते हुए भी अपनी बच्ची की खातिर 'सरोज वशिष्ट' पुरुष दंभ के बर्बर प्रतीक प्रेम सिंह (पति) के साथ रहने को मजबूर थी। चूँकि पूजा पिता के साथ रहना चाहती थी। काश! वह पति रूपी खूँटे की मानसिकता से अपने को मुक्त कर उससे अलग हो गई होती, तो आज देश, विशेषकर हरियाणा और उसमें भी महिलाओं, मजदूरों का सर्वहारा वर्ग उनके नेतृत्व से वंचित नहीं होता।

## समाज की अन्तश्चेतना में अभी भी पुरुष शाउनिज़्म

‘समय माजरा’ अंक 65-66 नवम्बर-दिसम्बर, 2005 के संपादक हेतु भारद्वाज ने अपने संपादकीय में ‘युद्धरत आम आदमी’ द्वारा ‘स्त्री नैतिकता के तालिबानीकरण’ पर निकाले जा रहे विशेषांक पर कुछ प्रश्न उठाए हैं। उनका जबाब देना मैं ज़रूरी समझती हूँ। उन्होंने दलित प्रश्नों पर ‘युद्धरत आम आदमी’ के साथ-साथ ‘हंस’ के संपादक राजेन्द्र जी को भी लपेटा है और दलित लेखकों को मंच देने को लेकर हमारी मंशा पर भी शंका जाहिर की है।

उनका पहला प्रश्न कि क्या वाकई डॉ. धर्मवीर ने ऐसा कुछ लिख दिया है, जिस पर विशेषांक निकलना चाहिए सिद्ध करता है कि वे धर्मवीर व इन जैसों के थोक माल लेखन की अद्यतन धारा से पूरी तरह अवगत नहीं हैं। ‘कथादेश’ में हुई बहस और हाल ही में छपी उनकी पुस्तकें व ‘जनसत्ता’ में छपे उनके व उनके समर्थकों के आलेख ही स्त्री विषयक उनकी विकृत अवधारणा के पर्याप्त सबूत हैं। उनका एक आलेख राजकिशोर जी द्वारा संपादित पुस्तक में छपा था, जिसमें यह स्पष्ट तौर पर लिखा है कि दलित स्त्रियाँ वेश्या होती हैं और वे अपने पति को भ्रष्ट होने के लिए मजबूर करती हैं।

धर्मवीर ने अनिता भारती और विमल थोरात पर भी काली बिल्ली और चरित्रहीन जैसे अनेक आरोप लगाए हैं। वे अपनी पत्नि पर भी आरोप लगाते हैं और अपने बच्चों का भी डी.एन.ए. टेस्ट कराने की माँग करते रहे हैं। वे इस बात को बार-बार कहते हैं कि तलाकशुदा (या परित्यक्ता) पत्नियों को गुजारा भत्ता नहीं मिलना चाहिए। दलित-नैतिकता और दलित विवाह-सम्बन्धों पर उन्होंने अलग से एक छोटी पुस्तिका भी लिखी है। दलित स्त्रियों को, दलित समाज की व्यवहारिकता के कारण, कुछ हद तक जो आजादी प्राप्त है, उसे भी वे यह तर्क देकर छीन लेना चाहते हैं कि इस आजादी के कारण ही दलित स्त्रियाँ या तो बलात्कृत होती हैं अथवा जार-कर्म करती हैं। सवर्ण स्त्रियों के लिए उनका कहना है कि चूँकि उन पर वर्जनाएं और बंदिशें इतनी अधिक लगी हैं, इसलिए वे गुपचुप, चोरी-छिपे जारकर्म करती हैं। विवाह और परिवार तथा मनु द्वारा प्रस्थापित स्त्री संबंधी शुचिता, व्यभिचार व अन्य संकीर्ण धारणाओं से भी आगे जाकर, धर्मवीर स्त्रियों पर पुरुष के कब्जे का समर्थन करते हैं।

मजहब व धर्म आधारित तालिबानी व ब्राह्मणी कट्टरपंथी अंदाज में ही वे प्रेमचंद या किसी भी सवर्ण लेखक द्वारा स्त्री नैतिकता के उदार प्रतिमानों को, सम्बद्ध लेखक के जातीय आधार पर खंडित करते हैं। वे प्रेमचंद के सामाजिक या जनवादी तेवर को खासकर स्त्री के संदर्भ में उनके जातीय आधार पर तोलते हैं और प्रेमचंद के लेखन को बार-बार कायस्थ का लेखन कह-कह कर खंडित या खारिज करते हैं। फलस्वरूप प्रेमचंद की संवेदना भी उन्हें एक सवर्ण कायस्थ की साजिश नज़र आती है। यह कट्टरवादी विकृत सोच बिल्कुल वैसे ही है जैसे कट्टरवादी तालिबान हर गैर मुस्लिम को काफिर कहता है अथवा संकीर्ण मनुवादी कट्टर ब्राह्मण या हिन्दू हर गैर-हिन्दू, खासकर मुसलमान को मलेच्छ कहता है। वे भी हर गैरदलित, यहाँ तक कि दलित को भी उसके जातीय आधार पर ही तोलते हैं। स्त्री के संदर्भ में तो धर्मवीर अत्यंत ही कट्टर हो जाते हैं। इस प्रकार वे दलित आन्दोलन को दिग्भ्रमित करने की साजिश कर रहे हैं, जिससे दलित आन्दोलन को सावधान रहना ज़रूरी है इसीलिए ये विशेषांक!

यह सत्य है कि सवर्ण समाज सदियों से दलितों को गाली ही देते आया है। पढ़-लिख जाने पर या संविधान प्रदत्त प्रावधानों व अधिकारों का ज्ञान व एहसास हो जाने पर दलित समाज भी जागृत हो गया है। यदि मनोवैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण किया जाए तो दलितों द्वारा सवर्णों को शोषक या अत्याचारी के रूप में गाली देना एक स्वभाविक प्रतिक्रिया ही है। वे जिनसे गाली खाते रहे हैं उनको पहले गाली देकर, वे उनके समकक्ष होने का दावा ही तो जाहिर करते हैं। आप इसे नकारात्मक कदम कह या समझ सकते हैं पर इससे क्या फर्क पड़ता है। कई बार सकारात्मक कार्य करने के लिए नकारात्मक कदम उठाने ज़रूरी होते हैं। हमें इस बात का कतई गिला नहीं होना चाहिए कि दलित सवर्णों पर, यानी हम पर शंका क्यों करते हैं। दरअसल दूध के जले का छाछ को फूँक-फूँक कर पीना भी स्वभाविक है। हमारे पूर्वजों ने कई बार हितैषी बन कर उन्हें ठगा है। हम पर विश्वास करने में उन्हें समय लगेगा। तब तक हमें सहना होगा। हम सह रहे हैं ये सहना ही हमारे पूर्वजों की बर्बरता के एवज में हमारा प्रायश्चित है। समानता, भाईचारा और आजादी के लिए लड़ना, हमारा और हमारी संस्था व पत्रिका का लक्ष्य ही नहीं, मिशन भी है। यह हमारा अवसरवाद नहीं है। दरअसल नेतृत्व हथियाने के इच्छुक ही अवसर की तलाश में रहा करते हैं। हमारा मिशन तो दलितों के नेतृत्व विकास में सहायक होना है। दलित आन्दोलन के प्रति हमारा दृष्टिकोण उसके विकास में मददगार होना है उसके बल पर खुद का विकास करना नहीं है। दलित का विकास भारतीय समाज ही नहीं मनुष्यता मानवता और संवेदना का विकास माना जाना चाहिए। जहाँ तक दलितों द्वारा दलित मंचों पर मुझे साझीदारी नहीं करने देने का सवाल है, तो सम्पादक महोदय की यह धारणा तथ्यात्मक रूप से गलत है। मैं तो उनके संगठन की बैठकों

तक में जाती हूँ और उनकी बैठकें हमारे कार्यालय में भी होती हैं। वे हमारे प्रति ऐसा कोई दुराव नहीं रखते। उल्टे दलित लेखक संघ ने तो मुझे और राजेन्द्र यादव को सम्मानित भी किया है। चंद अपवादों को छोड़कर सभी दलित संगठन और दलित साथी अपने गैर-दलित समर्थकों व मित्रों का स्वागत करते हैं, बशर्ते समर्थन और मित्रता के पीछे कोई स्वार्थ न हो। दरअसल दलितों का मुद्दा उठाने के पीछे हमारी संस्था या पत्रिका की मंशा शुरू से ही दलित-आदिवासी लेखकों को मंच उपलब्ध करवा कर, उनके लेखन एवं उनके नेतृत्व का विकास करने की रही है और आज भी हम उसी प्रयास में लगे हैं। हम अपना नेतृत्व उन पर थोपने का प्रयास नहीं करते, इसीलिए वे हमारा विश्वास करते हैं। हमारी संस्था का सदैव ही यही सिद्धांत रहा है कि नेतृत्व दलित आदिवासी ही करें, हम उन्हें सहयोग दें। हम उनके मसीहा नहीं बनना चाहते, ना ही उनके गुरु बनना चाहते हैं। सवर्णों के 'गुरुडम' का भार तो सदियों से बहुजन समाज ढोता ही आया है, अब मौका उन्हें देना चाहिए।

विवाद का एक और मुद्दा भी है। बहुत से सवर्ण लेखक दलितों पर कुछ लिख या प्रकाशित कर खुद को दलित लेखक घोषित करने लगते हैं। वे पुराने या नए सभी प्रगतिशील या जनवादी लेखकों को, जैसे प्रेमचन्द या निराला आदि को दलित लेखक होने का दावा ठोकने लगते हैं। विवाद यहीं से है शुरू होता है। दरअसल दलित लेखन दलितों द्वारा लिखा गया वह लेखन है, जो अंबेडकर की विचारधारा और उनकी 22 प्रतिज्ञाओं के दायरे में लिखा जाता है। ये उनके आत्मसम्मान, स्वाभिमान और अस्मिता का लेखन है, जो सामाजिक अन्याय के प्रतिरोध में खड़ा है। इसके केंद्र में ऐसा मनुष्य है, जो जाति के दायरे से बाहर निकलकर मानवता के दायरे में खड़ा होना चाहता है। हमारे जैसे गैरदलित भी उनके इस अभियान के समर्थक हैं। हमारे पूर्वजों ने वह सब भोगा नहीं है, जो दलित भोग चुके हैं या भोग रहे हैं। इतिहास हमेशा अवचेतन में कायम रहता है और दलितों का इतिहास अत्याचार सहने की इन्तहा ही है। उन पर ये अत्याचार हमारे ही पूर्वज करते रहे हैं। अब यह खुन्नस तो उनके मन से जाते-जाते ही जाएगी और वह भी तब, जब सवर्ण लोग अपना वर्चस्ववादी रवैया या गुरुडम की प्रवृत्ति और नेतृत्व का दावा खत्म कर, उन्हें विकास के अवसर देंगे और अपने बराबर खड़ा होने के लिए सक्षम बनाने में मददगार होंगे।

हेतु भारद्वाज की व्यंग्य भरी इस टिप्पणी से ऐसा लगता है कि जैसे मैंने दलित लेखन को मंच देकर कोई गुनाह कर दिया है। दलित लेखकों को मंच देना हमारा मिशन है और यह समय की मांग भी है, जिस पर हम आज भी कायम हैं और यह भी कि युद्धरत आम आदमी या हंस, की मंशा दलितों को मंच देकर उन्हें विकसित करने या होने का अवसर देना है, अपने किसी स्वार्थ के लिए अवसरवादी समझौता करना नहीं। इसी प्रयोजन से युद्धरत आम आदमी ने देश की कई भाषाओं

के दलित लेखन का अनुवाद करवा कर विशेषांक प्रकाशित किये ताकि हिंदी पढ़ी के लोग, जिसके सभी वर्गों व वर्णों में (दलितों समेत) वर्चस्ववादी और सामंती प्रवृत्ति ज्यादा रहती है (सवर्णों में कुछ अधिक), ये जानें कि इन जमातों में भी देश के स्तर पर लेखक पैदा हो गए हैं, जो मानवीय मुद्दों पर सवर्णों से कहीं ज्यादा आगे हैं। हमारे इस प्रयास के दो परिणाम हुए एक दलित और गैरदलित के बीच राष्ट्रीय स्तर पर संवाद का शुरू होना, दूसरा दलित और दलित के बीच राष्ट्रीय स्तर पर एक-दूसरे को जानने-समझने, तुलनात्मक विवेचना करने और एक होने का अवसर प्राप्त होना। दलित आदिवासी की पहचान की इस लड़ाई में युद्धरत आम आदमी उनका समर्थक और सहयोगी रहा है नेता नहीं। आज दलितों की अपनी दर्जनों पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही हैं और सैकड़ों लेखक उभर रहे हैं।

हालाँकि डॉ. धर्मवीर जन्मना दलित हैं और उन्होंने कई महत्वपूर्ण कार्य भी किए हैं लेकिन अब वे डॉ. अंबेडकर और उनकी धारणा के अनुरूप दलित-दर्शन आधारित लेखन के विपरीत जाकर केवल दलित जन्मना होने का लाभ उठाकर, अंबेडकर-विरोधी दर्शन का प्रतिपादन कर रहे हैं। वे स्त्रियों के अधिकारों, खासकर दलित स्त्रियों के अधिकारों पर ही चोट नहीं कर रहे बल्कि डॉ. अंबेडकर, गौतम बुद्ध का भी विरोध करने लगे हैं। डॉ. धर्मवीर कुछ भी लिखें उनको लिखने का अधिकार है। हम उन्हें रोक तो नहीं सकते पर उनके विचारों का तर्कसम्मत उत्तर देकर, दूसरों को गुमराह होने से बचा तो सकते हैं। वे अपने विचारों को दलित लेखन कह कर परोस रहे हैं। विवाद यहीं पर है। दलित लेखन अंबेडकर विरोधी और स्त्री-विरोधी अथवा जाति का पक्षधर हो ही नहीं सकता। उनकी ऐसी ही विचारधारा का दिल्ली में महिलाओं ने विरोध किया था, जिसका नेतृत्व दलित महिलाओं ने ही किया था। इस विशेषांक का नाम ही स्त्री-नैतिकता का तालिबानीकरण है। इसलिए विमल थोरात, प्रोमिला तथा अनिता भारती और मैंने इस सबसे संबंधित कुछ सीधे प्रश्न भी बनाकर लेखकों को भेजे हैं, जिनके उत्तर भी आने शुरू हो गये हैं। दरअसल एक साजिश के तहत हिन्दुवाद के निर्देशन में आर.एस.एस. की पारिवारिक अवधारणा की पुष्टि हेतु, खासकर स्त्रियों के संदर्भ में कुछ दलित लेखकों से ऐसा लेखन करवाया जा रहा है, जिसका उद्देश्य दलित आन्दोलन का ध्यान जातीय उत्पीड़न, जातीयता की खिलाफत, आत्मसम्मान, अस्मिता और स्वाभिमान एवं अन्तरजातीय विवाह आदि मुद्दों से हटाकर, व्यभिचार/सदाचार, डी.एन.ए. टेस्ट, जैसे गैरज़रूरी मुद्दों में उलझाना और दलित आन्दोलन को गुमराह करके उसे खत्म करना ही है।

हाल ही में फिल्म अभिनेत्री खुशबू के विवाह पूर्व यौन संबंधी बयान के विरोध में तमिलनाडू में जो तोड़-फोड़ हुई, उनमें कतिपय दलित व पिछड़ा नेतृत्व ही लीड ले रहा था क्योंकि सांप्रदायिक शक्तियों का जोर दलित आन्दोलन को तोड़कर अपने में समाहित करना है। इसलिए भी कतिपय दलित बुद्धिजीवियों द्वारा निरर्थक बहसों



छिड़वाकर मूल आन्दोलन को पीछे धकेलने की साजिश रची गई है। दलित आंदोलन को खतरा इस प्रवृत्ति से है। चूँकि दलित समाज नेतृत्व लेने की प्रक्रिया में है और यदि यही लोग गलत मुद्दों में उलझ जाएंगे, तो समाज को सही दिशा कौन देंगे? हाल ही में मेरठ में एस.पी. द्वारा चलाया गया 'मजनू ऑपरेशन', जिसके तहत प्रेमी युगलों या मित्रवत बैठे लड़के-लड़कियों को लाठियों से पीटा गया। ऐसी ही विकृत मानसिकता का परिचायक है। धर्मवीर का लेखन कुछ वैसी ही विकृति से ग्रस्त है, इसलिए इसका खंडन ज़रूरी है। इस विशेषांक में हम डॉ. धर्मवीर के विचारों का खंडन कर रहे हैं, व्यक्तिगत रूप से डॉ. धर्मवीर का नहीं।

इस विशेषांक का संपादन भी दलित महिलाएँ ही कर रही हैं विमल थोरात, अनिता भारती और प्रोमिला। इसलिए 'समय माजरा' के संपादक महोदय से हमारा अनुरोध है कि वे पूर्वाग्रह व शंकाएँ छोड़कर हमारा साथ दें।

और अन्त में उनका यह आरोप कि हम यह विशेषांक निकाल कर डॉ. धर्मवीर का प्रचार कर रहे हैं या यह कि हमारी उनसे मिली-भगत है, उनकी गलत सोच का नतीजा है। दरअसल कबूतर की तरह बिल्ली के डर से आँखें बंद कर लेने से समस्या का समाधान नहीं होता। समाधान तो उसके रू-ब-रू होकर मुकाबला करने से ही होता है। चूँकि दलित समाज का एक बड़ा हिस्सा अभी भी पुरुष शाऊनिज्म, पितृसत्ता और मनुवादी कट्टरता तथा अंधविश्वासों की गिरफ्त में है, इसलिए उनके गुमराह होने का खतरा अधिक है, जिसके लिए यह विशेषांक ज़रूरी है।

किसी विकृत विचारधारा के खंडन हेतु यदि किसी व्यक्ति का प्रचार होता है तो हो पर वह गौरवान्वित तो नहीं होगा। ऐसे हेतु भारद्वाज जी ने अपने संपादकीय में तो प्रेमचंद के संबंध में डॉ. धर्मवीर के विचारों का हवाला देकर, उनका खंडन किया है। पता नहीं हमारे ऐसा करने पर उन्हें एतराज क्यों है? मैं तो उल्टे उनसे यह भी सवाल करना चाहूँगी कि उन्होंने प्रेमचंद पर की गई टिप्पणी पर तो अपने सम्पादकीय में आलोचना कर दी पर वर्षों से डॉ. धर्मवीर औरतों, अंबेडकर और गौतम बुद्ध के विरोध में टिप्पणियाँ करते रहे हैं पर उन्होंने कभी अपने संपादकीय या लेखन में एक शब्द भी नहीं लिखा, जबकि 'युद्धरत आम आदमी' या मैं वर्षों से ही उनके इन विचारों का प्रतिवाद करते रहे हैं।

क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हमारे समाज की अंतसचेतना में अभी भी पुरुष शाऊनिज्म, मनुवाद, वर्णवाद और जातिवाद कहीं न कहीं मौजूद है, जो हमें इनसे मुक्त नहीं होने देता और हम अच्छी मंशा पर भी शक कर बैठते हैं।

## स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण

डॉ. धर्मवीर ने एक किताब लिखी है **प्रेमचन्द : सामन्त का मुंशी**। उसमें मुंशी प्रेमचंद की जो फजीहत की है, वह तो की ही है लेकिन उन्होंने दलित स्त्रियों के प्रति विष-वमन भी किया है। 'कथादेश' पत्रिका में उन्होंने दलित स्त्रियों को वेश्या तक कहा था तो बहुत से बुद्धिजीवी दलित स्त्री-पुरुषों ने उनका लिखित विरोध किया था। उन्होंने अपने उत्तर में तब भी विरोध करने वाली महिलाओं के संबंध में अपशब्द इस्तेमाल किए थे। हंस के दलित अंक में भी कौशल्या वैसन्त्री जैसी प्रख्यात लेखिका पर उन्होंने अपना गुस्सा उतारा और व्यक्ति के स्तर पर उनके प्रति अपमानजनक शब्दों का इस्तेमाल किया। वे उन्हें डायनासोर तक कह गए। इस पुस्तक में भी उन्होंने महिलाओं पर अपना निशाना साधा है। वे उनकी तुलना बुधिया से करते हैं। 'कफन' की **बुधिया** को वे अपनी कल्पना से एक बलात्कार की शिकार महिला बताते हैं, जिसके पेट में ठाकुर का बच्चा है। उसी बुधिया पर वे जार-कर्म यानी व्यभिचार का आरोप भी लगाते हैं, जबकि प्रेमचन्द की लिखित मूल कथा में वह केवल प्रसव-वेदना से पीड़ित स्त्री ही दिखाई गई है। बाकी बातें डॉ. धर्मवीर ने अपने मन से जोड़ ली हैं। उनके तर्कानुसार भी बलात्कृत बुधिया को जार-कर्म घोषित करना क्या उनकी मनुवादी मानसिकता नहीं दर्शाता? डॉ. धर्मवीर एक दलित आई.ए.एस. लेखक कहे जाते हैं, जो चिंतक तो जरूर हैं पर दलित चिंतक नहीं के बराबर है। उनका चिन्तन सर्जक ना होकर छिद्रान्वेषी अधिक होते जा रहा है। यदि ऐसे दलित चिंतक स्त्रियों के, विशेषकर दलित बुद्धिजीवी स्त्रियों के खिलाफ, ऐसी घिनौनी मुहिम चलाएँ, तो दलित आन्दोलन को रसातल में नहीं तो कहाँ पहुँचाएँगे? बाबा साहब हर दलित आन्दोलन और सभा-सम्मेलनों के आयोजन के साथ स्त्रियों की सभाएँ भी अलग से बुलाते थे, ताकि उन्हें जागरूक बनाया जा सके और वे भी राजनीति, सत्ता और समाज में बराबर की हकदार हो कर भागीदारी कर सकें। डॉ. धर्मवीर के अपने विचार अलग हो सकते हैं, लेकिन सरलीकरण करके दलित स्त्रियों की पूरी की पूरी जमात को वेश्या या जार-कर्म कहकर खारिज करने के अधिकारी वे नहीं हैं। मन दुःखी होता है, यह सोचकर कि दलित आन्दोलन किस दिशा में जा रहा है? ऐसे एक-आध भ्रमित बुद्धिजीवियों द्वारा इसे भटकाया ही नहीं जा रहा बल्कि बदनाम भी किया जा रहा है। यह शोचनीय है।

जहाँ तक प्रेमचन्द के सामन्ती होने या रखैल रखने का सवाल है, तो यह मुद्दा पहले भी वीरभारत तलवार उठा चुकें हैं। पर धर्मवीर जी! छाज तो बोले, छलनी क्यों बोले जिसमें छत्तीस सौ छेद? क्या आप छाती पर हाथ रखकर कह सकते हैं कि आपकी रखैल नहीं थी?

प्रेमचंद जिस युग के थे, उसकी आचारसंहिता में एक पत्नी कानून नहीं बना था, भले राम का आदर्श जनता के समकक्ष था, जिसे न जनता मानती थी, न राजा और न रंक। ब्राह्मण हो या दलित किसी को भी बहु विवाह या रखैल रखने से गुरेज़ नहीं था। बहुविवाह अथवा रखैल (जिसे आजकल सुप्रीमकोर्ट ने दूसरी औरत के रूप में परिभाषित कर, पति से गुजारा भत्ता व उसकी औलाद को पति की सम्पत्ति में हिस्सा देने का फैसला भी कर दिया है) के समर्थन अथवा विरोध के मुद्दों पर अलग बहस हो सकती है और प्रेमचंद की जीवनशैली पर उंगलियाँ उठ सकती हैं उठी भी हैं भले हम उससे सहमत हों या असहमत लेकिन प्रेमचंद की संवेदना और मंशा पर शंका करना और उन्हें जातीय दायरे में बाँधना किसी भी मापदंड पर सही नहीं उतरता। उनका अपना दृष्टिकोण था, जो उनके अनुभव के आधार पर निर्मित हुआ था। यह तो निश्चित है ही कि वे अपने युग से आगे थे। वे, आज के दृष्टिकोण या व्यवहारिकता के नज़रिए से आप या हम से भिन्न हो सकते हैं। साहित्य के मंच पर लेखक का मूल्यांकन उसके लेखन के आधार पर होता है, उसके तथाकथित चरित्र के आधार पर नहीं। ऐसे तो अधिकांश भारतियों का चरित्र हिन्दू विकृतियों का पुलिंदा है। आज भी, चाहे वह हिन्दू हो या ब्राह्मण अथवा दलित, कोई भी सांमती, हिन्दूवादी व मनुवादी मानसिकता से उबर नहीं पाया है। भारतीय लेखकों की इस मानसिकता की जद में छोटे-बड़े लेखक तो क्या, स्वयं डॉ. धर्मवीर भी आते हैं। अगर डॉ. धर्मवीर ने लेखकों के गंदे पोतड़े धोने का अभियान चलाया है, तो उन्हें इसकी शुरुआत पहले अपने से ही करनी चाहिए थी। तब हम देखते कि किसके मुकाबले कौन बड़ा शातिर है। खैर, साहित्य के मंच का तो इस कार्य हेतु कतई भी उपयोग नहीं किया जा सकता। साहित्यिक कृतियों को व्यक्तिगत चरित्र से जोड़कर देखना, युक्ति-संगत नहीं है। दरअसल चरित्र की परिभाषा भारतीय मानस में अस्पष्ट तो है ही बल्कि ये संकीर्ण भी है और केवल यौन से जुड़ी है। चरित्र के बहुत से पहलू होते हैं, जिनमें यौन एक हो सकता है। यौन-आचरण की मर्यादाएँ भी देशकाल और समाज के अनुरूप बदलती रहती हैं। वे सापेक्षिक होती हैं, शाश्वत नहीं। इसलिए डॉ. धर्मवीर द्वारा निर्मित शंका व व्यभिचार की कसौटी पर कसके प्रेमचंद के लेखन को खारिज करना संकीर्ण व कट्टरवादी दृष्टिकोण तो है ही, वह पक्षपात पूर्ण मानसिक असन्तुलन का द्योतक भी है। भाषा का उपयोग भी किसी कृति के लिए, विशेषकर स्त्रियों के संदर्भ में *बिलो दी वैल्ट* नहीं होना चाहिए, जिसका उपयोग डॉ. धर्मवीर ने सुश्री अनीता भारती के लिए इस पुस्तक में किया है। डॉ. धर्मवीर स्त्री-नैतिकता

का तालिबानीकरण कर रहे हैं। स्त्री के विषय में अभी भी उनकी सोच मनुवादी और हिन्दुवादी है, जो मानवीय अधिकारों का नकार है। डॉ. धर्मवीर व्यभिचार पर इतना जोर दे रहे हैं कि वे 'गोहाना' तक को भूल गये हैं। वैसे भी 'व्यभिचार' या 'जार' अथवा 'जारज' शब्द सापेक्षिक हैं। विवाह-प्रथा से पहले इन शब्दों का अस्तित्व ही नहीं था या वे इसका अर्थ वह नहीं होगा जो आज है। शब्द भी अर्थ बदलते रहते हैं समय और सन्दर्भों के साथ-साथ। नियम व कानून मनुष्य के लिए बनाए जाते हैं, नियमों के लिए मनुष्य नहीं बनाया या गढ़ा जाता। डॉ. धर्मवीर अपने बनाए ढांचे में स्त्रियों, खासकर दलित स्त्रियों को फिट करना चाहते हैं।

दलित आन्दोलन का ऐजेन्डा अस्मिता स्वाभिमान, बराबरी, आजादी और भाईचारा है या व्यभिचार बनाम सदाचार? आज दलितों का ऐजेन्डा गोहाना है दलित औरतों को नंगा कर निकाले गए जुलूसों की खिलाफत है न कि डी.एन.ए. टेस्ट? दलित आदिवासी या किसी भी स्त्री का बलात्कार हो, तो बलात्कारी को पकड़ने हेतु डी. एन.ए. टेस्ट की मांग की जा सकती है, जैसा कि एक बलात्कृत आदिवासी स्त्री के लिए बिहार विधान परिषद् के हस्तक्षेप से बिहार में कराया गया था लेकिन क्या ये डी.एन.ए. टेस्ट डॉ. धर्मवीर की तरह अपनी पत्नियों पर शंका करने वाले पतियों की सहायता करने के लिए होना चाहिए, जो अपनी पत्नी को जिन्दगी भर जार-कर्मी और बच्चों को 'हरामी' बना कर रहने को मजबूर करना चाहते हैं। डॉ. धर्मवीर ने अपनी पत्नी का डी.एन.ए. टेस्ट कराने की मांग कोर्ट में दायर की थी। यह हिन्दु मनुवादी दृष्टि है पुरुषवादी दृष्टि है मानवीय दृष्टि नहीं। दलित दृष्टि तो ये कदापि नहीं हो सकती। दरअसल डॉ. धर्मवीर अभी तक हिन्दुवाद और मनुवाद से मुक्त नहीं हुए हैं। इधर वे तालिबानों के प्रभाव में भी आ गए लगते हैं। कहीं कल होकर वे इमराना वाले फैसले न सुनाने लग जाएं, मुझे इस बात का डर है।

दलित आन्दोलन ब्राह्मणवाद, मनुवाद, हिन्दुवाद, वर्णवाद तथा जातिवाद के विरुद्ध शुरू हुआ था। डॉ. धर्मवीर ने उसे 'व्यभिचारवाद' पर लाकर खड़ा कर दिया है। 'व्यभिचारवाद' का अर्थ ही है स्त्री-शुचिता और स्त्री-शुचिता की अवधारणा औरत के सम्पत्तिकरण पर टिकी है। ये दोनों ही शर्तें स्त्री के संदर्भ में मनुवादी आचारसंहिता की स्तम्भ हैं। इनके अनुसार औरत केवल गुलाम ही हो सकती है। वह सभ्य नागरिक बनने की अधिकारी नहीं है। डॉ. धर्मवीर की इस पुस्तक से जो निष्कर्ष निकलता है, उसमें पहला है 'दलित आन्दोलन ब्राह्मणवादी, मनुवादी आचारसंहिता की खिलाफत से शुरू हुआ था और अब वह ब्राह्मणवाद व्यभिचार की आड़ लेकर स्त्री-शुचिता यानी मनुवादी आचारसंहिता का समर्थन कर रहा है।' दूसरा 'दलित अब जाति तोड़ना नहीं चाहते बल्कि उसे मजबूत करना चाहते हैं। वे व्यभिचारी औरत की इस्लाम की आचारसंहितानुरूप संगसार (पत्थर मार-मार कर हत्या कर) करके उसकी हत्या करने पर अधिक खुश होंगे, बजाय मानव के नाते उसे जिन्दा रखने में।'

## नये कानूनों के दायरे

नया वर्ष कुछ नयी आशाएँ, सम्भावनाएँ और शंकाएँ लेकर हाजिर हो रहा है। सरकार ने कई नए कानून पारित किए हैं जो विकृत रीति-रिवाजों, परम्पराओं व अन्धविश्वासों पर रोक लगा सकते हैं लेकिन इन कानूनों की सार्थकता उनके कार्यान्वयन पर है जो अभी केवल नौकरशाहों के हाथ में है। जब तक जनता की इच्छाशक्ति नहीं जागेगी या जगाई जायेगी तब तक इन कानूनों का हथ शारदा-एक्ट जैसा ही होगा। इसलिए जरूरी है, समाज में इन विकृतियों से मुक्ति की इच्छा का जगना।

### बाल-विवाह

बाल-विवाह प्रतिबंधित विधेयक 2004 संसद में पारित कर दिया गया है। इससे समाज की एक अमानवीय, कुरीति पर प्रतिबंध लगेगा और बेहतर समाज के निर्माण को गति मिलेगी, खासकर बालिकाओं के शोषण, बालिका-वधू तथा नाबालिग माँ बनने से लड़कियों को निजात दिलाने में यह कानून सहायक होगा। इसके लिए समाज को जागृत करने का भारत सरकार एवं सामाजिक संस्थानों को जिम्मेवारी लेना जरूरी है। यह प्रथा दलित, पिछड़ों या कतिपय जनजातियों में अधिक प्रचलित है, अतः सामाजिक संस्थानों, राजनैतिक नेताओं, दलित, आदिवासी एवं स्त्री-मुक्ति आन्दोलन के कर्णधारों की जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है।

### मणिपुर

प्रधानमंत्री का मणिपुर के संदर्भ में सेना संबंधी बयान और मुस्लिम आबादी की सही स्थिति दर्शाने वाली सच्वर कमेटी की रिपोर्ट के आलोक में, उनकी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए दिया गया उनका वक्तव्य स्वागतयोग्य है। प्रधानमंत्री के इस बयान ने आने वाले वर्ष को सुखद अपेक्षाओं से भर दिया है। आशा है अपने बयानों के अनुरूप वे आने वाले वर्ष में अमल कर, उन्हें कानूनी जामा भी पहनाएंगे।

### आदिवासी विधेयक

आदिवासियों के लिए माकपा की नेता वृंदा करात ने प्रधानमंत्री को एक मेमोरेण्डम दिया था। सरकार की जंगल के व्यापारीकरण की नीति के चलते जंगल

कट गये और आदिवासी विस्थापित हो गए हैं। उनकी रोजी-रोटी भी छिन गई क्योंकि जंगलों में आदिवासियों का प्रवेश ही निषिद्ध हो गया। दरअसल जंगल ही आदिवासी के जीवन-यापन का साधन है। सरकार आदिवासियों की सुरक्षा हेतु कानून बनाने की खातिर काफी अरसे से विचार मंथन कर रही थी क्योंकि पर्यावरण और बाघों की सुरक्षा को लेकर कई सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं व नौकरशाहों ने आदिवासियों के हितार्थ बनने वाले कानून पर आपत्तियाँ दर्ज कराई थीं फलतः वह लटक गया था। यह खुशी की बात है कि 15 दिसम्बर 2006 को लोकसभा ने बहुप्रतीक्षित 'अनुसूचित जनजाति विधेयक' (वन अधिकारों की मान्यता) को ध्वनिमत से पास कर दिया। इस कानून के जरिए जंगलों में रहने वाली जनजातियों के अधिकारों को सुरक्षित किया जाएगा और आदिवासियों को बाहरी अतिक्रमण से निज़ात मिलेगी। उनका यह भय भी समाप्त होगा कि उन्हें किसी भी समय उनकी जमीन से बेदखल किया जा सकता है। इस विधेयक के पास होने पर आदिवासी समाज और उसके पक्षधरों का उत्साहित होना स्वाभाविक है। हाँ इसके क्रियान्वयन को लेकर शंकाएँ बनी हुई हैं। इस कानून के क्रियान्वयन को सुनिश्चित करना इसलिए भी बहुत ज़रूरी है क्योंकि जो वनधिकारी माफियाओं से सांठ-गांठ करके आदिवासियों को उजाड़ते रहे हैं, वे ही इसके क्रियान्वयन में रोड़े अटकाने का भरसक प्रयास करेंगे।

#### दलित-विमर्श पर विवाद

दलित-विमर्श को लेकर कुछ लोग भ्रम फैलाने में जुटे हैं। पुणे केंद्रीय हिंदी संस्थान द्वारा आयोजित कार्यक्रम आगरा में श्री अजय तिवारी ने भी दलित-विमर्श पर कुछ टिप्पणियाँ की थीं, जो युद्धरत आम आदमी के अंक-84 में भी उन्होंने जाहिर की हैं। उनका मानना है कि दलित-साहित्य, साहित्य न होकर केवल विमर्श रह गया है। उनका यह भी कहना है कि 'विचार और संघर्ष से अलग विमर्श का अर्थ है सत्ता के लिए सत्य की व्याख्या की आत्मपरक रणनीति।' वे यह भी कहते हैं कि 'संघर्ष से सत्ता पैदा होती है, विमर्श से सुविधा' और अपने इस आलेख में उन्होंने यह निष्कर्ष भी निकाला है कि हिन्दी में प्रचलित विमर्शों की स्थिति खासकर दलित-विमर्श की स्थिति इस बात का साक्ष्य है।

मैं उनके पहले निष्कर्ष कि 'संघर्ष से सत्ता पैदा होती है और विमर्श से सुविधा' से सहमत होते हुए भी उनके दूसरे निष्कर्ष की उस व्याख्या से कि यह 'खासकर दलित-विमर्श पर लागू होती है', से सहमत नहीं हूँ। लगता है उन्होंने अपने पूरे आलेख में धर्मवीर या उनके जैसे चन्द लेखकों को आधार बनाकर यह निष्कर्ष निकाला है, जो न तो तर्कसंगत है और न ही उचित। दरअसल डॉ. अम्बेडकर के बाद दलित आंदोलन कई खेमों में बँट गया। भारत में संगठन या संस्थाएँ विचारों

की बजाय व्यक्तियों के आधार पर अधिकांशतः बँटती रही हैं। नक्सलवादी जैसा आन्दोलन भी व्यक्तियों के चलते 26 या 56 भागों में बँट गया। आजादी की लड़ाई लड़ने वाली, जेल और कालापानी की सजा भुगतने वाले, वीरों और शहीदों की पार्टी कांग्रेस अब तक पाँच भागों में बँट चुकी है। भारत की साम्यवादी पार्टियाँ भी पाँच या छः भागों में बँटी हुई हैं। उसी प्रकार दलित मुक्ति के लिए डॉ. अम्बेडकर की चलाई गई मुहिम व उनके द्वारा बनायी गयी दलित पैथर पार्टी उनके जीते जी या तो बँट गयी या कांग्रेस में घुस गई। इसलिए कुछ दलित व्यक्तियों को उनके जन्मना दलित होने के कारण ही दलित-विमर्श या आंदोलन का प्रतिनिधि मान लेना सबसे बड़ी भूल है। यह सही है कि बाबा साहेब के बाद कांशीराम जी ने दलित आंदोलन को व्यापक विस्तार दिया और राष्ट्रीय स्तर पर एक चेहरा ही नहीं बल्कि परिवर्तन, खासकर सामाजिक परिवर्तन लाने का एक मौका दिया था। इस अवसर का लाभ उठा कर दलित आन्दोलन बाबा साहेब के दलित मुक्ति अभियान को कामयाब कर सकता था। सत्ता में भागीदारी के माध्यम से वह समाज का चेहरा बदल सकता था। सवर्ण और दलित दोनों की मानसिकता में बदलाव लाकर दलित को हीन-भावना से मुक्त कर, उन्हें स्वाभिमान और आत्मविश्वास से लैस कर के गाँधीजी के हरिजन याचक की बजाय, एक संघर्षशील आंदोलनकारी के रूप में खड़ा कर सकता था। दूसरी तरफ सवर्णों को भी हकीकत की पहचान करवा कर, उनकी श्रेष्ठता के दंभ को तोड़ सकता था। सवर्णों में सुपरमैन की बजाय खुद को मनुष्य समझने की मानसिकता भी विकसित करने में सहायक हो सकता था। मायावती के अवसरवादी समझौतों और केवल सत्ता में रहने की चाहत ने इस आन्दोलन का रुख ही बदल दिया। दरअसल मायावती को ही दलितों का प्रतिनिधि मान लेना भी गलत है क्योंकि मायावती के बरक्स कई दलित आन्दोलन खड़े हैं। एक बहुत बड़ा आंदोलन महाराष्ट्र में भी है जो मायावती की इन अवसरवादी नीतियों और समझौतों को नहीं मानता। हिन्दी पट्टी में ही रामविलास पासवान जिन्होंने मायावती से भी पहले दलितों के हित में संसद से लेकर सड़क तक कई अभियान चलाए, अपनी दलित सेना के साथ मौजूद हैं। डॉ. उदित राज, जिन्होंने बाबा साहेब की दी गई लाइन के अनुरूप दलितों के लिए न सिर्फ आर्थिक परिवर्तन के लिए मुहिम चलाई बल्कि सामाजिक स्तर पर समानता का अहसास दिलाने, मुक्त कराने व आत्मसम्मान विकसित करने हेतु उन्हें बौद्ध बनाकर, हिन्दू धर्म की जड़ रूढ़ियों व अंधविश्वासों और जाति व्यवस्था से मुक्त करने का एक सक्षम अभियान चलाया, भी जमीनी संघर्ष के माध्यम से पुख्ता ढंग से भारतीय राजनीति व दलित-मानस में उपस्थित हैं।

धर्मवीर या चन्द्रभान द्वारा प्रायोजित पुस्तकें या आयोजन मात्र ऐसे कार्यक्रम हैं, जो कुछ खास लोगों की मदद से चलाये जा रहे हैं, जिन्हें आर.एस.एस., बीजेपी और अमरीका से धन भी प्राप्त होता है। ये दोनों व्यक्ति दलित मूवमेंट को तोड़ने

के लिए प्रायोजित ढंग से खड़े किए गये हैं। ये दलित तो हैं पर दलितों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। ऐसे भी धर्मवीर के विमर्श को दलित-विमर्श कहना सही नहीं है चूँकि वे अंबेडकर और गौतमबुद्ध के विरुद्ध हैं। यह एक प्रमाणित सत्य है कि दलित-विमर्श वही हो सकता है, जो डॉ. अम्बेडकर की 22 प्रतिज्ञाओं के अनुरूप हो, जिसमें गौतम बुद्ध की करुणा व 'अप्प दीपो भवः', फ्रांस की क्रांति के तीनों सूत्र समानता, भाईचारा और आजादी हो और साम्यवाद व समाजवाद के मुख्य कार्यक्रम ज़मीनों का राष्ट्रीयकरण, उद्योगों पर सरकार का नियंत्रण गरीबों-मजदूरों हेतु जन वितरण प्रणाली की व्यवस्था, ताकि भुखमरी के कारण वे उद्योगपतियों के आगे घुटने न टेकें तथा गुलामों की मुक्ति आदि भी शामिल हों।

विमर्श को लेकर भ्रम का दूसरा मुद्दा जो उठाया जा रहा है, वह है विमर्श को संघर्ष से अलग करना और एक-दूसरे के विपरीत खड़ा करना, खासकर दलितों के संदर्भ में। यह भी एक तरफा सोच या पूर्वाग्रह का नतीजा लगता है। दरअसल संघर्ष में पहले विमर्श ज़रूरी होता है, ताकि कार्यनीति या रणनीति बन सके। विमर्श अगर कार्यनीति नहीं बनाता या दिशा-निर्देश नहीं देता, तो ऐसा विमर्श निरर्थक होता है। विमर्श और संघर्ष एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं विरोधी नहीं। जो विमर्श बुद्धिविलास के लिए होता है, वह निरर्थक होता है। धर्मवीर का दिया विमर्श केवल विमर्श नहीं, वह बुद्धिविलासी भी है। वह समाज के लिए निरर्थक हो सकता है। दरअसल आज खतरा इस बात का है कि यह निरर्थक विमर्श एक घातक रणनीति के तहत दलित-आंदोलन को तोड़ने या भटकाने के खास मकसद से चलाया जा रहा है इसलिए केवल धर्मवीर के कारण ही पूरे के पूरे दलित-विमर्श को संघर्ष के प्रतिरोध में खड़ा करना, एक भूल है। आज दलित साहित्य लिखने या विमर्श करने वाले अनेक लेखक गंभीर होकर साहित्य भी लिख रहे हैं और विमर्श भी कर रहे हैं। उनमें बहुत से तो ज़मीनी संघर्ष भी कर रहे हैं। चूँकि धर्मवीर और चन्द्रभान जन्मना दलित हैं इसलिए वे दलित प्रतिनिधि हो गए यह अवधारणा ही ग़लत है। दलित लेखक बनने के लिए जन्मना दलित को भी डॉ. अम्बेडकर की सोच अपनाना ज़रूरी है। ऐसे भी किसी प्रतिबद्ध विचारधारा का प्रतिनिधित्व व्यक्ति नहीं होता वह विचारधारा होती है जिसे व्यक्ति अपनाते हैं और दलित-साहित्य प्रतिबद्ध साहित्य है।



ओमप्रकाश वाल्मीकि, तुलसीराम, एस.के. थोरात, विमल थोरात, कंवल भारती, सुशीला टाकभौरे, एस. के. विश्वास, ए. के. विश्वास और जयप्रकाश कर्दम, डॉ. ज्ञानसिंह बल तथा द्वारका भारती जैसे अनेक उल्लेखनीय लेखक हैं, जो धर्मवीर या चन्द्रभान के विमर्श का समर्थन नहीं करते। वे पूरी तरह अम्बेडकरवादी हैं और वे गौतमबुद्ध को उनके क्षत्रिय जाति का होने के कारण नहीं नकारते। यह ठीक है



महाराष्ट्र में नामदेव ढसाल जैसे एक दलित लेखक बाल ठाकरे के साथ लालच में चले गए पर वहीं पर मुंगेर, लिम्बाले, बाबुराव बागुल, जसवंत मनोहर जैसे अनेक दलित लेखक हैं, जो दलित-विमर्श को सही दिशा देकर चला रहे हैं। दक्षिण में डॉ. वी. कृष्णा व ननचरैया और रूथ मनोरमा जैसे मनीषी दलित आंदोलन को सही दिशा देकर आगे बढ़ रहे हैं। इसलिए केवल ऐसे लोगों को, जो अपने पारिवारिक या व्यक्तिगत कारणों से अपना मानसिक संतुलन खो बैठे हों, को दलितों का प्रतिनिधि मान लेना उचित नहीं लगता। श्री एच.एल. दुसाध ने अपनी पुस्तक में इन्हें मानसिक रोगी सिद्ध किया है। हाँ, लोगों को खबरदार करने के लिए डॉ. धर्मवीर की इन बातों का खंडन जरूरी है, चूँकि ज्ञान की कमी या अविकसित मानस वाले लोग उससे प्रभावित हो सकते हैं। सुना है आजकल कुछ युवा भी डॉ. धर्मवीर के स्त्री-विरोधी तेवर के दीवाने हैं। अगर विश्लेषण करें तो यह दीवानापन दलित-विमर्श या दलित होने के चलते नहीं है। यह पुरुष शाउनिज्म के चलते है, जो भारत की नहीं, विश्व की विकृति और समस्या है। जो लड़के कुछ लड़कियों से निराश हुए हों या जिन लड़कियों को वे पाना चाहते हों और नहीं पा सके हों, वे लड़के या पुरुष भी मनोवैज्ञानिक ग्रंथि के तहत स्त्री-विरोधी हो सकते हैं। इसका दलित आंदोलन से कोई ताल्लुक नहीं है। यह दलित आन्दोलन को बदनाम करना माना जा सकता है।

डॉ. अंबेडकर ने लिखा है कि व्यभिचार और भ्रष्टाचार गरीबी के कारण बढ़ता है लेकिन धर्मवीर इसे जाति-व्यवस्था से जोड़ रहे हैं। जाति व्यवस्था से जुल्म बढ़ता है, वर्चस्ववादी प्रवृत्ति बढ़ती है, बलात्कार बढ़ता है। व्यभिचार सहमति से होता है और उसमें लालसा या लालच एक बहुत बड़ा तथ्य होती है। धन या महत्वाकांक्षा ही व्यभिचार को जन्म देती है, जाति नहीं। जाति के नाम पर या जाति के आधार पर हुआ व्यभिचार मजबूरी या जुल्म की परिधि में आता है।

### भाषा

इस वर्ष आगरा में केंद्रीय हिन्दी संस्थान द्वारा भाषायी साम्राज्यवाद पर एक बहुत सार्थक चर्चा हुई। यह चर्चा देश के पैमाने पर खासकर अप्रगणित भाषाओं के क्षेत्रों में भी होनी चाहिए ताकि कुछ जमीनी सच्चाइयाँ उभर सकें। केवल अंग्रेजी ही का साम्राज्यवाद खतरनाक नहीं है, कोई भी बहुसंख्यक आबादी वाली भाषा साम्राज्यवादी हो जाती है। अपनी जनसंख्या के कारण बहुसंख्यकों और सत्ता के कारण अल्पसंख्यकों की भाषाएं भी दूसरी भाषाओं को हड़पती या धौंसती रही हैं। अंग्रेजी अल्पसंख्यकों की भाषा है, जो दुनिया भर पर राज कर रही है। मैक्सिको या क्यूबा में स्पैनिश भाषा सत्ता के कारण सब की भाषा बन गई। भारत की हिन्दी पट्टी की भाषा हिन्दी ने बृज, अवधी, भोजपुरी, खोरठा या अन्य बोलियों के विकास पर रोक लगा दी। भारत के दक्षिण के सभी राज्यों की भाषाओं ने जनजातियों की भाषाओं को हड़प लिया।

## राजेन्द्र यादव को अपने चश्मे से न देखें

राजेन्द्र यादव दलित और स्त्री के सवाल, उनकी मुक्ति के प्रति चिन्तित होकर उठाते हैं, उन मुद्दों को भंजाने या प्रचार के लिए नहीं, इसलिए वे कुछ प्रबुद्ध लोगों की गालियाँ भी झेलते हैं। वे जो भी हैं, बाहर-भीतर से एक हैं। रही यौन-मुक्ति की बात! सच-सच कहिएगा! क्या स्त्री से उसकी यौन-शुचिता की शर्त हट जाने के बाद वह पुरुष के समकक्ष नहीं हो जाएगी? यही तो एक शर्त है, जो उसे खुद उसकी नज़र में भी दोगम दर्जे का बनाती है! आप लोग उसे मुक्त करें न करें, जिस दिन औरत खुद अपनी नजर में यौन-शुचिता से मुक्ति पा लेगी, वह मुक्त हो जाएगी। वह भी ठीक दलित की तरह ही इस परजीवी मानसिकता से बँधी है। दलित जन्मना जाति के कारण अछूतपन की ग्रन्थि से मुक्ति नहीं पा रहा, इसलिए वह स्वयं को जाति की पहचान से जोड़कर सशक्त होने का प्रयास कर रहा है और स्त्री यौन-शुचिता से मुक्ति नहीं पा रही, इसलिए अपनी देह और सेक्स के बल पर पुरुष की ही नज़र में श्रेष्ठ होने की चेष्टा करती है। गृहणि व घरेलू महिलाओं का तो मनोविज्ञान एक दम यौग आधारित ही होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो हर गुलाम या बंदी व्यक्ति मुक्त होते ही पहले उसके जैसा बनने की चेष्टा करता है, जिसने उसे गुलाम बनाया था। अब इन सब पर लिखना और ऐसी मानसिकता से उबरने के लिए प्रेरित करना भी यदि कतिपय लोगों की दृष्टि में प्रचार ही है, तो उन पर तरस ही खाया जा सकता है।

इधर 'दस्तावेज़' पत्रिका के संपादक ने अपने संपादकीय में राजेन्द्र यादव के खिलाफ अपनी व्यक्तिगत भड़ास निकाली है उन्हें अपने चश्में से देखा है, जिसमें उन्हें सब काला-ही-काला नज़र आया है। राजेन्द्र यादव ने जहाँ अपनी आत्मकथा में अपनी कमजोरी स्वीकारी है, संपादक महोदय उसे भी 'प्रसिद्धि पाने के लिए नाटक' की संज्ञा देते हैं। गाँधी जी के बारे में संपादक ने कई जगह चर्चा की है। गाँधी ने भी अपनी कमजोरी स्वीकारी थी। क्या वह भी नाटक और प्रसिद्धि पाने की तिकड़म थी? राजेन्द्र यादव से मतभेद हो सकते हैं पर उनकी हर चीज़ में ऐब खोजना कहाँ तक उचित है? राजेन्द्र यादव की क्यों किसी भी आत्मकथा लेखक की मंशा पर सन्देह करना, इसलिए उचित नहीं लगता कि कम से कम वह सच बोलने की हिम्मत तो कर रहा है, जो सभी लेखक नहीं करते या कर सकते! जहाँ

तक नैतिकता का प्रश्न है ज़रूरी नहीं वह कुछ ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाले साहित्यकारों में ही हो। बहुत से बगुला भगत ब्रह्मचारी साहित्यकार भी होते हैं, जो मौका पाने पर चोंच में दबोचने से नहीं चूकते। कई प्राध्यापक लेखक तो पी.एच.डी की उपाधि देने के एवज में छात्राओं से सौदेबाजियां करते हैं और बड़े गर्व से कहते हैं “आज मैंने एक शतक पूरा कर सौंवी लड़की को भोग लिया।”

राजेन्द्र यादव ने अपने प्रेम-प्रसंगों पर खुलकर लिखा है। यही अपने में एक बड़ी बात है। ज़रूरी नहीं हर पाठक को वह अच्छा लगे या वह उसकी नैतिकता की अवधारणा के अनुकूल हो! सबकी नैतिकता की परिभाषा अलग-अलग हुआ करती है। बहुत ज्यादा नैतिकता का पाठ पढ़ाने वाले लोग, प्रायः ज्यादा क्रूर और संवेदनहीन हुआ करते हैं। ऐसे भी आज जब कुछ भी शाश्वत नहीं है सब सापेक्ष ही है, तो उस दृष्टि से राजेन्द्र यादव के बारे में कोई फतवा देना तर्क-संगत नहीं हो सकता।

उदाहरण के तौर पर यदि एक तरफ एक वेश्या जो देश और समाज के प्रति चिन्तित होने की कुव्वत रखती हो अच्छी नागरिक हो देश काल की स्थितियों पर भी अपनी अलग राय रखती हो, गली-मोहल्ले की मददगार हो और दूसरी तरफ एक गृहणी हो, जो आठ-दस बच्चे पैदाकर गहनों से लदी-फदी, घर के सिवाय दुनिया-जहान या देश से अनजान हो, तो इन दोनों में आप किसे श्रेष्ठ मानेंगे उस वेश्या को या गृहणी को? मैं जानती हूँ कि खड़ी कर दी जाय नैतिकता से बोझिल तर्क के बटखरों पर तो वह गृहणी ही श्रेष्ठ उतरेगी लेकिन सत्यं, शिवं, सुंदरं, सामाजिक-सामाजिक न्याय, कल्याण, संवेदना और मानव केन्द्रित सोच के तराजू पर वह वेश्या खरी उतरेगी! डॉ. लोहिया भी ऐसी सचेत वेश्या के पक्षधर थे।

एक और उदाहरण एक बहुत धनी, संयमी, ब्रह्मचारी सदाचारी, जो खूब परहेजी है, नहा-धो व पूजा करके खाता है, छुआ-छूत, नेम-धर्म का पालन करता है, सात्विक शाकाहारी, मृदुभाषी भी है पर अगल-बगल रहने वाले अड़ोसी-पड़ोसी की तकलीफों से बेखबर उनमें रुचि न रखने वाला अनुशासन-प्रिय, नियमित, स्वघोषित श्रेष्ठ परहेजी नागरिक है ऐसा व्यक्ति। इसलिए जब मौका मिलता है तो वे अति पर उतर आती हैं। आम लोगों की राय में भद्रलोग होता है! दूसरी तरफ एक बड़बोला कर्कश कभी-कभी गाली बकने वाला शराब पीने वाला आदमी जो आम लोगों की राय में बहुत अच्छा व्यक्ति या भद्रलोक नहीं होता!

एक दिन सुबह-सवेरे घर में काम करने आई भंगिन का लड़का छत से गिर जाए और वह ब्रह्मचारी सदाचारी व्यक्ति अपनी खिड़की से देख कर, घर में यह कहते हुए घुस जाए “इस भंगी को यहीं आकर गिरना-भरना था देखो तो सब भंगी जमा हो गए और गंदगी फैला दी।” दूसरी तरफ वह शराबी है जो आनन-फानन में भंगिन के लड़के को गोदी में उठाकर उसे अस्पताल ले जाए, उसका इलाज करवाये, बिना

इसकी चिंता किए कि वह अछूत, गरीब या गंदा है उसकी मरहमपट्टी करवा कर उसे उसकी मां को सौंप कर एक पेटी दारू पीने चल दे, शायद मन के तनाव को खत्म करने या इस संतोष में कि एक जान बचाली तो कौन अच्छा है इन दोनों में? वह शराबी या वह तथाकथित 'भद्रलोक'? प्रचलित नैतिकता की कसौटी पर पता नहीं क्या फतवा दिया जाए? बहुत वजनी है न आपकी नैतिकता का बटखरा, जिसे आम आदमी नहीं उठा सकता। पर संवेदन और मानवता की दृष्टि से वह शराबी ही बजनी निकलेगा।

इतना विरोधाभास होते हुए भी एक संवेदनशील व्यक्ति ही जो वक्त पर मददगार हो, जनता की नज़र में अच्छा माना जाता है।

जहाँ तक सम्पादक का यह प्रश्न कि राजेन्द्र यादव ने जो लिखा इससे पाठकों को क्या मिला या क्या लाभ होगा तो हर चीज़ को लाभ-हानि की दृष्टि से देखना, अपने में ही एक अत्यन्त संकुचित और संकीर्ण दृष्टिकोण है, जो वणिक प्रवृत्ति का द्योतक है। क्या अनुभवों के रू-ब-रू होना अपने-आप में ही एक बड़ी अनुभूति नहीं है? ये अनुभव ये अनुभूतियाँ किसी व्यक्ति की अकेली देन नहीं होतीं। ये तो पूरे समाज, पूरे वातावरण एवं परिस्थितियों का मंथन करके निकाला गया अमृत या विष, यानी सार होता है। राजेन्द्र यादव ने जो जिया जो सहा जो झेला जो भोगा या अनुभव किया सुख या दुख प्रेम या घृणा मैत्रीवत् स्नेह या शत्रुवत् तिरस्कार, वह सब अकेले राजेन्द्र यादव का नहीं, पूरे समाज का आकलन प्रस्तुत करता है और यही आकलन यदि पाठक ग्रहण कर ले, तो वह उसकी उपलब्धि माना जा सकता है। किन परिस्थितियों ने राजेन्द्र यादव को प्रेरित किया स्त्री या दलित-मुक्ति की मुहिम छेड़ने के लिए किस दृष्टि ने उन्हें स्त्री को यौन-शुचिता से मुक्ति की मुहिम चलाने की प्रेरणा दी या प्रेम की इतनी ललक दी कि वे प्रेम का अंत नहीं चाहते और शायद इसलिए विवाह के दायरे में प्रेम को सीमित नहीं कर सके। वे न खुद आधिपत्य (Possesive) जमाते हैं न पत्नी पर आधिपत्य (Possesive) जमाना पसंद करते हैं। यह दृष्टिकोण अपनाना सहज नहीं होता। मनुष्य जानवर की तरह ही आधिपत्य-ग्रन्थि (Possesive-Complex) से ग्रसित होता है। यह भी सत्य है कि मनुष्य मूलतः जानवर होता है और असुरक्षा की भावना ही उसे और भी अधिक वर्चस्ववादी (Possesive) बनाती है। औरतें प्रायः ज्यादा वर्चस्ववादी (Possesive) हो जाया करती हैं चूँकि उन्हें रौब जमाने के कम अवसर मिलते हैं। इसलिए जब मौका मिलता है तो वे अति पर उतर आते हैं। औरतें इतनी कंडीशंड कर दी गई हैं कि प्रायः वे पुरुष प्रभुत्व की मानसिकता से ग्रसित होकर समझौते कर लेती हैं। वे दूसरी औरतों को खुद घर ले आती हैं चूँकि वे अपनी सुरक्षा पुरुष के सुख में देखने की आदी हो जाती हैं। पुरुष के साथ ऐसा नहीं है। उसकी ग्रन्थि का मूल यौन-शुचिता है, जिसका विरोध राजेन्द्र यादव जैसे

लेखक और औरतें भी करती हैं। राजेन्द्र यादव स्त्री को भी पुरुष के बराबर बनने में विश्वास करते हैं इसलिए जो मुक्ति वे अपने लिए चाहते हैं, वही वे औरतों के लिए भी चाहते हैं। हर पत्नी इसे स्वीकार नहीं करती। इस द्वंद्वत्मक स्थिति से क्या व्यक्ति समझौता करे या अपनी बात पर डटा रहे? जो परिवर्तन चाहते हैं, वे समझौते नहीं करते वे डट जाते हैं, भले टूट जाएँ। वे ऐसे तथाकथित प्रबुद्ध लोगों व संपादकों के प्रहार सहते रहते हैं।

एक व्यक्ति सुंदर हो, स्मार्ट हो पर किसी कारणवश दुर्घटना से अपाहिज हो जाए, लेकिन उसके बाकी अंग दिमाग, सोचने की शक्ति बरकरार हो, तो बाकी अंग ज्यादा सक्रिय होकर उस कमी की भरपाई कर देते हैं। कमी को भरने का एक माध्यम प्रेम भी है और प्रेम से सेक्स का अटूट रिश्ता है। सेक्स को प्रेम से भिन्न मानना अव्यवहारिक है। प्रायः लोग सेक्स को वासना कहकर प्रेम से अलग करने का ढोंग करते हैं। सेक्स उसी तरह स्वभाविक है, जैसे भूख। जीवन के व्यवहारिक पक्ष को देखते हुए भूख और सेक्स दोनों पर काबू रखने के निर्देश हैं पर दुर्भाग्यवश उन्हें तो बहिष्कृत-तिरस्कृत करके नैतिकता के दायरे से ही बाहर कर दिया जाता रहा है। यह स्वाभाविक जीवन-प्रणाली के विरुद्ध किया गया षडयंत्र है। ऐसे तो, सोच अमूर्त होने के बावजूद भी प्यार की उत्प्रेरक होती है। हालांकि देह तात्कालिक एवं मूर्त होने का कारण, अधिक प्रभावी होता है। सोच का आकर्षण अधिक स्थायी होता है पर देह का आकर्षण भी कम नहीं होता। इसे वर्जित फल बनाना कहाँ तक उचित है, यह भी बहस का विषय है। वैसे तो यह पूरी धारणा ही पुरुष प्रभुत्ववादी है। विवाह में कौन यात्री होगा और कौन सहयात्री, यह भी मातृसत्ता और पितृसत्ता के अनुरूप होगा, यानी यह भी सापेक्षिक है। प्रेमयात्रा में विवाह एक पड़ाव होता है ज़रूरी नहीं उस यात्रा पर एक ही सहयात्री रहे। सहयात्री बदल भी सकते हैं कुछ लोग अलग-अलग दिशाओं में जाकर पुनः पुनः पड़ाव पर लौट आते हैं! यह सब होता आया है और हो रहा है। मनुष्य के स्वभाव को बाँधने के नियम व कानून, मनुष्य के लिए बनते हैं, मनुष्य का निर्माण इनके लिए नहीं होता, इसलिए महत्वपूर्ण भूमिका मनुष्य की है।

राजेन्द्र यादव ने अपनी जीवनी में अपने अनुभव लिखे हैं। समाज और परिस्थितियों के दबाव में, उनका व्यक्ति उनका कितना नकार कर पाया या उन पर काबू पा सका अथवा कितना उनके साथ चलता या बहता रहा है इसकी यादें हैं। ऐसी ही स्थितियाँ पाठक के अनुभव का दायरा बढ़ाती हैं और वह स्वयं उनका विश्लेषण कर अपना निष्कर्ष निकाल, अपनी दिशा भी निर्धारित कर सकता है। क्या जीवनी का यह अवदान कम है?

संभवतः सम्पादक का दृष्टिकोण पत्नीपरायण बने रहने को अधिक अच्छा मानना हो। प्रेमिका से शादी न करने को धोखा मानकर, अपनी प्रेमिका को धोखा

न देने की कसम खाना हो। खैर, यह नितांत निजी मामला है। अब यादव जी ने अपने नितांत निजी मामले को सार्वजनिक किया है, तो इस पर नैतिकता का मापदंड लागू करना साहित्यकार को सत्य बोलने से रोका जाना ही समझा जाएगा। उनकी लेखन शैली पर बात की जा सकती है। उनकी भाषा पर बात भी हो सकती है। शब्द विन्यास की चर्चा की जा सकती है। उनकी रचना में दोहराव या बोरियत की चलाई जा सकती है। अगर उसमें कुछ ऐसा हो तो। उनके अनुभवों पर प्रश्न करना। उनकी मंशा को तोड़-मोड़ कर देखना या प्रस्तुत करना। उन पर कुत्सित अर्थ लादना, यह साहित्यक आलोचना तो कतई नहीं हो सकती। यह तो सत्य और तथ्य दोनों का नकार है। राजेन्द्र यादव के जीवन में जो घट चुका है, उसे दिशा देना अब संभव नहीं हो सकता। वह तो घट चुका है। क्यों घटा। क्यों घटने दिया अथवा जो घटा वह अनैतिक या गलत है। ऐसी टिप्पणियाँ करना एक निराश, हताश और Frustrated व्यक्ति की भड़ास भले हो सकती हैं, जो जीवन जीना तो चाहता है पर जीने के लिए जोखिम उठाने से डरता है। प्रायः ऐसा व्यक्ति अपने को नैतिकता के एक ऊँचे पैडेस्टल पर स्थापित कर लेता है और वहीं से बैठा दूसरों पर ढेले फेंकता रहता है, फतवे देता रहता है। इसी में उसे संतोष मिलता है और ऐसे ही लोग खुद को प्रगतिशील भी कहते हैं। शुक्र है उन्होंने राजेन्द्र यादव की जीवनी में कुछ अश्लील नहीं खोजा, वरन् ऐसे लोग सभी अश्लीलताओं में जीते हुए भी हर रोज उनके रू-ब-रू होते हुए भी। लेखन में आई अश्लीलता से बिदकने लगते हैं। दरअसल उनका मलाल यही होता है कि वैसी अश्लीलताओं की उनसे भेंट क्यों नहीं हुई।

## नरसंहारों की जड़ में ज़मीन या जाति

बिहार के जहानाबाद में लगातार दलितों की हत्याएँ होती रही हैं। हाल में वहाँ हुए नरसंहारों को बहाना बनाकर भाजपा की केंद्र सरकार ने बिहार सरकार को बर्खास्त कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया था, हालाँकि यह केवल एक बहाना ही था। लेकिन जब भाजपा के सामने राष्ट्रपति शासन लागू करना सांप के गले में छलुंदर का अटकना साबित हो गया और वह न उगलते बनने लगा, न निगलते, तब उन्हें इसे वापस लेना पड़ा और राबड़ी देवी की सरकार पुनः शासन में आई।

इस प्रकार के आंदोलनों में हमला कहीं भी हो, कोई भी करे, पर दलित ही मारे जाते रहे हैं। दरअसल, बिहार में ये लड़ाई बड़े सामंतों, नवधनाढ्य बने मझोले किसानों और भूमिहीन खेतिहर मजदूरों, सीमांत किसानों और बटाईदारों के बीच है। अधिकांश पुश्तैनी बड़े भूस्वामी (पुराने जमींदार) अगड़ी जातियों के ही हैं, पर अब कुछ पिछड़ी जाति के कोयरी, कुर्मी, यादव या साहू जाति के नवधनाढ्य भी हैं, जो मुख्यतः भाजपा और समता समर्थक हैं। छोटे किसान या खेतिहर मजदूर अथवा बटाईदार, अधिकांश दलित ही हैं। इसमें पिछड़े और अल्पसंख्यक भी शामिल हैं भले नेतृत्व में दो-चार अगड़े भी हों। जमींदार-वर्ग के लोग अभी तक अपने पुश्तैनी अहम् और दकियानुसी रुतबे को नहीं भुला पा रहे हैं। जमींदारी तो छिन गई लेकिन चोरी-छिपे बेनामी जमीनें अभी भी इनके कब्जे में ही हैं। अभी भी अपने से ये हल नहीं जोतते क्योंकि हल जोतने से इनकी जाति यानी श्रेष्ठता चली जाती है। सवर्णों में हल जोतने पर जाति-बहिष्कार करने की परंपरा अभी भी कायम है। मजदूरों से बेगारी लेने की इनकी आदत अभी भी बनी हुई है। इधर खेतिहर मजदूर और बटाईदार भी संगठित हुए, विशेषकर वामपंथी या नक्सलवादी नेतृत्व में, जो अपनी पूरी मजदूरी माँगने के साथ-साथ, जमींदारों द्वारा छीनी गई जमीनें भी वापस माँगने लगे हैं। कथित अगड़ा-वर्ग सशक्त है कि विरासत में उन्हें मिले परम्परागत अधिकारों के कारण अब वे उतनी संख्या में पैरवी, सोर्स या पैसे के बल पर सरकारी नौकरी में नहीं आ पाएंगे, जैसे पहले कांग्रेस के राज में होता था। वह शारीरिक श्रम भी करना नहीं चाहता। ऐसी स्थिति में उसके आगे तीन ही रास्ते बचते हैं। पहला रास्ता है व्यापार या अन्य धंधा करना, जिसे वे पूरी तरह नहीं अपना पाया। ठेकेदारी, ट्रांसपोर्टिंग या एजेंसी के धंधे पर वे ज़रूर जोर-शोर से काबिज हो गए हैं लेकिन

पूंजी के अभाव में यह भी सबके वश की बात नहीं है। दूसरा रास्ता है वह डकैती या लूटपाट करे जैसे जौहरियों की दुकानों में लूटपाट करना या रेलों में डकैती डालना आदि और यह कार्य कुछ लोग कर भी रहे हैं। तीसरा रास्ता है हक की लड़ाई लड़ने वाली संगठित शक्ति को नेस्तनाबूद करने के लिए अपनी सेना बनाना शस्त्र उठाना ताकि आंतक फैलाकर वे मजदूरों की मजदूरी और उनकी हड़पी हुई जमीन का हिस्सा अपने पास यथावत् रख सकें। पिछले कुछ वर्षों में इन्होंने यही धंधा जोर-शोर से शुरू किया है रणवीर सेना, कुंवर सेना अथवा ब्रह्मर्षि सेना का गठन इसके उदाहरण हैं।

बिहार में किसी भी सरकार ने भूमि-सुधारों को कभी लागू करने की इच्छा ही नहीं रखी, इसलिए न तो जमीन के ही सही जोतदार की पहचान आज तक हो पाई और न ही बटाईदार और खेतिहर मजदूरों की। हदबंदी कानून, बेनामी बंदोबस्ती तथा कोर्ट में दायर हजारों पैटीशनों के चलते भूमि-सुधार का कारोबार ठंडे बस्ते के हवाले हो गया था। इसी के चलते रह-रहकर जमीन को लेकर जमीन जोतने वालों और अंत में जमीन पर नाजायज़ कब्जा जमाए बैठे जमींदारों में विवाद होता रहता है जो नरसंहार का रूप ले लेता है। चूंकि जोतने वाले दलित, निर्धन पिछड़े व अल्पसंख्यक हैं और जमीन के मालिक दबंग-अगड़े व नवधनाढ्य हैं, जिनमें कुछ पिछड़े भी शामिल हैं, इसलिए यह विवाद जाति युद्ध का रूप ले लेता है। कहा जाता है कि भूपतियों में कुछ पिछड़े भी होते हैं। यह प्रचार सब वोट की राजनीति के तहत किया जाता है। इलेक्ट्रानिक मीडिया और प्रेस की भूमिका भी प्रारम्भ से खेतिहर मजदूर एवं किसान विरोधी ही रही है। वे स्वयं जातिवादी मानसिकता से ग्रस्त होने के कारण ऐसा माहौल बना देते हैं कि इन नरसंहारों का मूल कारण, जो जमीन, भूमि-सुधार और मजदूरी से जुड़ा है, गौण कर दिया जाता है। उस विवाद को जाति-युद्ध अथवा सामाजिक न्याय के विरोधी या पक्षधर के रूप में पेश किया जाता है, जबकि सामाजिक न्याय की पक्षधर जातियों के भूधारी भी, जब जमीन अथवा भूमि-सुधार लागू करने का सवाल आता है, तो बगलें झाँकने लगते हैं। यह सच है कि अन्य राज्यों की तरह बिहार में जाति भी एक अहम् मुद्दा है, जिसके लिए उच्च जातियों के गरीब भी अपने जातीय वर्चस्व की खातिर भूमि-सुधार की मुहिम में भूमिहीनों या छोटे किसानों का साथ नहीं देते। लेकिन पिछड़ी जातियों के नवधनाढ्य या पुश्तैनी जमींदार भी-जमीन बंटवारे के सवाल पर अगड़ा-पिछड़ा भूलकर, पुश्तैनी अथवा नवधनाढ्य अगड़े भूस्वामी-वर्ग के पक्षधर बन जाते हैं या तटस्थ होकर आपसी संघर्ष को हवा देते रहते हैं। कुछ तो इस इंतजार में भी रहते हैं कि कब पुराने जमींदार भागें और वे उनकी जमीनें खरीदें ताकि खुद नये भूपति बन जाएं। इस प्रकार हदबंदी से फाजिल जमीन निकाल कर, भूमि-सुधार कानून का अनुपालन करते हुए भूमिहीनों व लघु किसानों में जमीनें बंटवाने, जोतदारों की पहचान करवाने, काश्तकारी कानून के तहत बटाईदारों को मान्यता दिलाने और सूची बनवाने



तथा खेतिहर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी दिलवाने के मुद्दे गौण हो जाते हैं और जातीय मुद्दा जोर-शोर से उछाल दिया जाता है।

बिहार की जातीय संरचना में हमेशा से राजपूत और भूमिहारों में परस्पर शत्रुता रही है, जो इन जातियों के गरीब-से-गरीब व्यक्ति से लेकर अमीर-से-अमीर व्यक्ति में व्याप्त है। ब्राह्मण या तो भूमिहारों के साथ रहते रहे हैं या मौका लगने पर राजपूतों के साथ भी हो जाते हैं। इसका साक्षात् उदाहरण है बिहार में विभिन्न जातीय सेनाओं का बनना। दरअसल, राजपूतों की कुंवर सेना से टक्कर लेने के लिए ही भूमिहारों द्वारा 'रणवीर सेना' का गठन किया गया था। बाद में उग्रवादी आंदोलन के कारण जब ज़मीनों पर दबाव पड़ा तो दोनों के हित एक हो गए। तब रणवीर सेना ने राजपूतों की बजाय उग्रवादियों को अपना टारगेट बनाया। इसी प्रकार चतरा क्षेत्र में राजपूत और पठानों ने मिलकर वहाँ के उग्रवादी आंदोलन को कुचलने के लिए 'सनलाइट' सेना बनाई थी, जबकि धर्म आधारित सांप्रदायिक दंगे करवाने में दोनों राजपूत और पठान बढ़-चढ़कर शामिल होते थे। सन् 1975 के चतरा में हुए दंगों में ये दोनों जातियां आमने-सामने थीं पर नक्सलों से टक्कर लेने के लिए ये एकजुट हो गईं।

बिहार में यादव, कुर्मी और कोयरी दबंग पिछड़ी जातियां हैं, जो अधिकांश छोटे, मझोले या सीमांत किसान हैं बी. पी. मंडल या चतरा के साहू जी जैसे कुछेक अपवाद छोड़कर। पटना और नालंदा के क्षेत्र में ज़मीन की सिंचाई की सुविधा और शिक्षा के विकास के कारण कुर्मी जाति के लोग दूसरी पिछड़ी जातियों की अपेक्षा शिक्षा में अधिक विकास कर गए, विशेषकर डॉक्टर और इंजीनियरिंग के पेशे में वे बहुत आगे बढ़े। पटना राजधानी के आसपास स्थित होने और राजधानी के विस्तार होने के कारण इनकी ज़मीनों के भाव में भी एकाएक अप्रत्याशित वृद्धि होने से, इनमें एकाएक नवधनाढ्यों की एक जमात पैदा हो गई, जो सामंतों के सपने पालने लगी है। वह सामाजिक मनुवादी सोपान में बीच के डंडे पर बैठी होने के बावजूद ऊपर के डंडे पर बैठने का दंभ भी भरने लगी है। भले ही सामाजिक मान्यता इन्हें नहीं मिली लेकिन हैं ये बहुसंख्यक ही। इसलिए धन और बल से राजनीतिक तौर पर ये लोग एकजुट होकर बिहार की राजनीति को प्रभावित करने में, बिहार के भूमिहार और राजपूतों की तरह ही सक्षम हो गए हैं।

लालू प्रसाद यादव के उदय के आरंभ में यादव, मुस्लिम और दलित शक्ति के विकास से विचलित होकर इन दबंग-पिछड़ी जातियों ने भी अपने साथ मिलती-जुलती जातियों को अपने गठबंधन में लाकर अपना मोर्चा बनाया। बिहार में चंद अपवादों को छोड़कर वैश्य यानी बनिए, साहू आदि हमेशा बंटे रहे हैं और प्रायः धर्मवादी दलों या संस्थानों से जुड़े रहे हैं। इनका वह हिस्सा जो व्यापारी है, धर्म के साथ हो लेता है। जो मजदूर और किसान हिस्सा है, वह वामपंथी पार्टियों और

अन्य बर्जुआ या अर्धबर्जुआ पार्टियों में अपना हित खोजता है। पिछड़ी जातियां भी सामाजिक न्याय की बात बड़बोलेपन में ज़रूर करती हैं लेकिन स्वयं हिन्दुत्व की वर्णवादी व्यवस्था से मुक्त नहीं हैं। दरअसल, हिन्दू धर्म में हर जाति अपने से निचली जाति से श्रेष्ठ होने का दंभ भरती है और उससे ऊंचा होने का दंभ पालती है, चाहे वह खुद ही क्यों न अपने से ऊंची जातियों से प्रताड़ित होती हो। वे जाति-व्यवस्था का पिरामिड तोड़ने में शामिल नहीं होतीं।

आर्थिक दबाव के चलते जब जमीन पर संघर्ष होता है तो प्रायः अगड़ी-पिछड़ी जातियों के गरीब एक होकर लड़ते हैं। विडम्बना यह है कि जब वर्ग-संघर्ष यानी जमीन के लिए संघर्ष होता है, तो सभी जातियों का गरीब-वर्ग भी भूमिहीनों का साथ नहीं देता। यानी जिस वर्ग से वे स्वयं आते हैं उस वर्ग का भी वह साथ नहीं देता। उनकी यह जातीय पक्षधरता शत्रुता का रूप धारण कर लेती है और वे या तो अपनी जाति के पुश्तैनी भूपतियों के लठैल या बराहिल बनकर भूमिहीनों पर हमला करने लगते हैं अथवा मन-ही-मन अपने जातीय वर्चस्व पर खुश होते रहते हैं। कुछ लोग जो पुरानी परम्पराओं से मुक्त होते हैं, वे अल्पमत में होने के कारण प्रभावहीन हो जाते हैं, इसलिए या तो वे चुप रह जाते हैं या तटस्थ हो जाते हैं।

जमीन और जाति की इस मनुवादी सीढ़ी पर दलित, अंत्यज, पंचम या अछूत ही सबसे निचले डंडे पर बैठा होता है, जो सामाजिक आर्थिक स्थिति में सब से नीचे होता है। इस लड़ाई में अल्पसंख्यकों में पिछड़े यानी अंसारी, मोमिन भी शामिल होते हैं चूँकि ये लोग भी प्रायः भूमिहीन ही होते हैं। दलित संख्या में अधिक होते हैं और बेगारी करना या बंधुआ बनना, मानो उनकी नियति होती है। वे ही भूस्वामियों का सबसे अधिक जुल्म भी बर्दाश्त करते हैं। वे ही जमींदारों की मुखालफत में भारी संख्या में संगठित होते हैं। चूँकि इनके पास हारने के लिए कुछ नहीं होता, इसलिए रणवीर सेना का टारगेट भी वही बनते हैं। वे ही नेतृत्वकारी भूमिका के साथ-साथ एक सुदृढ़ ताकत वाले भी होते हैं! बिहार में अब इन बड़ी जातियों और पिछड़े तबके के छोटे-बड़े भूस्वामियों का हित बिहार में एक हो गया है, खासकर अगड़ी जाति परस्पर जातीय शत्रुता के बावजूद, भूपतियों का। इसलिए वे जिस भी पार्टी में रहें लेकिन उनकी दुखती रग जमींदारी का छिन जाना ही है या फिर उनके वर्चस्व के खिलाफ वामपंथियों या नक्सलों का अभियान है, जो अब अपना हिस्सा लेने के लिए कटिबद्ध है। इसलिए इन जातियों का नेता जहाँ भी होता है, रणवीर सेना की मदद करता है। ये जातियाँ सबसे ज्यादा भाजपा के पक्ष में हैं या फिर समता के। कुछ राजद और जनता दल में भी हैं। कांग्रेस तो उनका पुराना घर ही है, जिसमें वे सुविधा अनुसार आते-जाते रहते हैं।

‘रणवीर सेना’ का हौसला बढ़ाने वाले लोग भाजपा समर्थक ही अधिक हैं। इस कारण जहानाबाद के बहाने राष्ट्रपति शासन लागू किया जाना न तो उनकी

दलितों के प्रति चिंता दर्शाता है और न ही कानून व्यवस्था के आदर भाव क्योंकि राष्ट्रपति शासन के चौबीस घंटे के भीतर ही जहानाबाद में पुनः भीषण नरसंहार हुआ। उसके बाद तो राष्ट्रपति शासन के नाम पर 'रणवीर सेना' के अपराधियों की अगुवाई में पुलिस, जातीय अधिकारी, जहानाबाद के दलितों को खदेड़ने लगे थे। उनकी औरतों से बदसलूकी करने लगे और ऐसा आतंक फैलाना शुरू कर दिया कि लोग अपना हक मांगना ही छोड़ दें। ये सही है कि राबड़ी देवी की सरकार के समय में एक के बाद एक कई घटनाएं घटीं लेकिन राष्ट्रपति शासन होने के बाद ये क्यों नहीं रुकी?

इन घटनाओं के सूत्रधार तो भाजपा के ही संरक्षण में हैं। इसलिए इसका हल न तो राष्ट्रपति शासन से हो सकता है, न जातीय सेनाओं अथवा उग्रवाद से। जातीय सेनाएँ हों या उग्रवादी संगठन दोनों ही आतंक की राजनीति कर रहे हैं ताकि डर से लोग अपने मद्दे छोड़ दें। 'रणवीर सेना' सोचती है इन नरसंहारों से खेतिहर मजदूर और छोटे किसान ज़मीन और मजदूरी की जिद्द छोड़ देंगे या गाँव से भाग जाएँगे। ठीक उसी प्रकार उग्रवादी सोचते हैं कि डर के कारण भूस्वामी ज़मीन और गाँव छोड़ देंगे। इसी उम्मीद में नरसंहार के जवाब में नारायणपुर या सेनारी जैसे जवाबी नरसंहार बढ़ते जा रहे हैं पर हल नहीं निकल पा रहा। सरकार की मशीनरी भी दोनों प्रकार की मानसिकता के लोगों से प्रभावित है। *सरकार और सरकारी मशीनरी अगर कड़ाई से ज़मींदारों से ज़मीन लेकर भूमिहीनों, सीमांत किसानों में बाँट दे उन्हें कब्जा दिला दें जोतदारों की सही पहचान कर दें, तो नरसंहारों की शृंखला तोड़ी जा सकती है।*

नरसंहारों का कारण जानने के लिए हमें बिहार में भूमि-सुधारों के कानून बनाने के इतिहास में जाना होगा। इससे यह पता चलेगा कि इन्हे रोकने के लिए बिहार में ज़मींदार एवं सत्ता के नेता सांठ-गांठ कर इन्हे कैसे टालते रहे अथवा काफी जद्दोजहद के बाद कानून बना भी तो उसमें ऐसे प्रावधान बनने दिये गये कि ज़मीन जोतदार को मिले ही नहीं बल्कि भूपति के पास ही रह जाए अथवा सरकार को मिले। सरकार को मिले भी तो वह जोतदारों में न बंट सके। हालांकि बिहार, भूमि-सुधार व ज़मींदारी उन्मूलन कानून लागू करने वाला पहला राज्य था लेकिन ज़मींदार लॉबी ने 'खुद की खेती' या बकास्त के नाम से इसमें एक ऐसा प्रावधान रखवा दिया कि लाखों एकड़ जमीन पुश्तैनी भूपतियों के पास बच गई। इसलिए बिहार में भूमि संबंध बदले नहीं जा सके। भूमि-सुधार के तहत बाँटी गई ज़मीनों का तो ये हाल है कि पट्टा भूमिहीन के पास है लेकिन कब्जा किसी पुराने या नए भूधारी के पास। राष्ट्रीय कृषि आयोग ने भी अपनी रिपोर्ट में बिहार सरकार के भूमि-सुधार कानून लागू करने की नाकामयाबी को विशेषतः चिह्नित करके कहा है *'भूमिहीनों के बीच वितरित भूमि केवल कागज़ पर ही बाँटी है। हकीकत में अभी भी मूल भूस्वामी ही उसके मालिक बने बैठे हैं।'*

दरअसल, बिहार में ज़मींदार लॉबी जबर्दस्त थी, इसलिए सन् 1946 में ही बिहार के विधान सभा के अधिवेशन में ज़मींदारी उन्मूलन कानून का प्रस्ताव दोनों सदनों में रख दिए जाने के बावजूद भी 1948 में 300 संशोधनों के बाद पारित हो पाया। इस विधेयक को तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने इसलिए रोक दिया था कि उन्हें भूस्वामियों के प्रतिनिधियों से बात करनी थी। बाद में उन्होंने मुआवजे का सवाल उठा कर इसे रोके रखा। आखिरकार यह कानून 1949 में पारित हो सका।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने विधेयक को निरस्त करने के लिए दबाव डाला और बिहार में 1950 ज़मींदारी उन्मूलन कानून की जगह भूमि-सुधार कानून आया। ज़मींदार-वर्ग ने कोर्ट की शरण लेकर इसे लागू होने से रोके रखा। हालांकि सुप्रीम कोर्ट ने बाद में हाईकोर्ट द्वारा ज़मींदारों के पक्ष में दिए गए फैसले को रद्द कर दिया लेकिन पाँच वर्षों की अवधि के बीच ज़मींदारों ने राजस्व कर्मचारियों और नौकरशाही जो उनकी पक्षधर थी, से मिलकर रिकार्डों में हेरा-फेरी कर ली। बकास्त या खुद खेती करने के प्रावधान के नाम पर सभी पुरानी ज़मीनें उन्हीं के पास ही रह गईं बल्कि उनमें वृद्धि करने का अधिकार भी इस कानून से उन्हें मिल गया, जिसमें ज़मींदारों ने बची ज़मीनें भी अपने कब्जे में कर लीं। ज़मीनों पर काबिज असली जोतदार बेदखल कर दिए गए। इस नए कानून में यह भी प्रावधान था कि जिस ज़मींदार के पास निर्धारित हदबंदी से कम ज़मीन हो तो गैर-मजूरवा जमीन उसके नाम की जा सकती है। इन कानूनों में ज़मीन की अधिकतम सीमा सौ से दो सौ एकड़ तक थी। इस प्रकार ज़मीन जोतदारों में बाँटने या ज़मींदारों से लेने की बजाय, ज़मींदारों के खाते में चढ़ती गईं और जोतदार भूमिहीन होते गए। इसमें नौकरशाही ने नंगा नाच किया और ज़मींदारों की पोषक सरकार ने भूपतियों की मदद की।

बिहार सरकार को सर्वे का काम करवाने में 25 वर्ष लगे। वह भी 1970 तक आधा-अधूरा ही रहा। ज़मींदारों ने सरकार को रिकार्ड देने से ही इनकार कर दिया था। राजस्व विभाग में अफसरों के रूप में ज़मींदारी वर्ग के ही लोग भर दिए गए ताकि रिकार्ड हेरा-फेरी करने में सुविधा हो। एक राजस्व आयुक्त तो आज भाजपा नेता भी हैं, भले निकाल दिए गए हैं। तब कैसे निकलती ज़मीन ज़मींदारों के कब्जे से बाहर? इन अफसरों ने अंचल (क्षेत्रीय) स्तर पर तक फर्जी रिकार्ड बड़ी आसानी से बनाकर कागजों में फाजिल ज़मीनें भी बड़े ज़मींदारों में ही बाँट दीं या ऐसे लोगों में वितरित कर दीं जो थे ही नहीं यानी पैदा ही नहीं हुए थे। यहाँ तक की कुत्ते, बिल्ली या देवी-देवता के नाम भी चढ़ा दीं। इस कानून ने पुराने ज़मींदारों को रैयती किसान का दर्जा देकर अधिक सुरक्षित कर दिया।

बिहार में आज भी लार्ड कार्नवालिस का काश्तकारी कानून, जो सन् 1761 में बना था, लागू है। इसमें सुधार का सवाल भी उठा था। इसी कानून के आधार पर पूर्वी भारत में ज़मींदारी-प्रथा ने अपना वर्चस्व कायम किया था। 1971 में कर्पूरी

ठाकुर जी जब मुख्यमंत्री थे, तो उन्होंने इस कानून को रद्द कर नया कानून बनाने की प्रक्रिया आरंभ की थी लेकिन उनके कार्यकाल में यह पूर्ण नहीं हो सका। पुनः 1983 में 1885 के काश्तकारी कानून को रद्द कर एक नया कानून बना दिया गया था लेकिन इस कानून को भी लागू करने की प्रक्रिया आज तक पूरी नहीं की गई। यदि इच्छा होती तो सरकार केवल एक अध्यादेश से इसे लागू कर काश्तकारों को अधिकार दे सकती थी लेकिन बिहार में राज करने वाली हर सरकार में भूस्वामियों की ज़मींदार लाबी अभी भी इतनी मजबूत है कि एक पारित कानून को भी लागू करने के लिए मंजूरी नहीं देने देती।

पुराने काश्तकारी कानून के तहत बटाईदारों को चिन्हित किया ही जा सकता था चूँकि उस कानून में अनेक छिद्र हैं, जो भूपतियों के पक्ष में हैं। बटाईदारों के तिरसठ हज़ार से अधिक मामले कोर्ट में दर्ज हुए थे, जो आज भी लंबित हैं। उनमें से सत्रह हज़ार मामलों में कोर्ट ने बटाईदारों को साक्ष्य के अभाव में नकली कहकर खारिज कर दिया। अभी भी बिहार में न तो 'वास्तविक जोतदार' चिन्हित हो पाए हैं न 'बटाईदार'। इस काश्तकारी कानून के तहत बड़े भूस्वामी ऐसा करते रहे कि कि हर साल दो साल बाद छोटे काश्तकारों का या तो 'जोत' का प्लॉट बदल देते हैं या काश्तकार को ही बदल देते हैं ताकि ज़मीन पर उनका मालिकाना हक न बन सके। इस प्रकार 10-12 वर्षों से भी अधिक समय से काम करने वाले काश्तकार कभी स्थायी नहीं हो पाते। इस तिकड़म में भूस्वामी उन्हें बेदखल करने का अधिकार सतत अपने पास रखते हैं। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे ठेकेदारी प्रथा में मजदूरों को 240 दिन पूरे नहीं होने दिये जाते कि कहीं वे स्थायी मजदूर न बन जाएँ। ऐसे कहने को बिहार में खेतिहर मजदूरों की संख्या 95 लाख बताई जाती है, जो अधिकांश दलित हैं पर उन्हें न ज़मीन दी गई है और न सुरक्षा। वे केवल सत्ता पर काबिज होने के लिए मात्र वोट बैंक हैं, जो चुनाव के बाद ग़ैर-ज़रूरी हो जाते हैं।

दरअसल, इसका हल राष्ट्रपति शासन नहीं बल्कि भूमि-सुधार को ईमानदारी से लागू कर सही जोतदार की पहचान करना है। नरसंहारों की जड़, जमीन के अतिरिक्त बिहार में व्याप्त वह जातीय विभेद है, जिसकी जड़ें सामंतवाद और मनुवाद दोनों में हैं। यहाँ की पुलिस और प्रशासन में, लालू-राज के बहुत पहले कांग्रेस-राज के समय से ही टिकट बांटने और नौकरी देने तथा नौकरशाही की पदोन्नति या पोस्टिंग करने की प्रक्रिया में हमेशा जातीय आधार को ही बल दिया जाता रहा है। इस कारण बिहार के प्रशासन और जन-मानस में जातीयता का जहर इस कदर भरा हुआ था कि दलितों सहित आम-आदमी को न्याय मिल ही नहीं सकता था सामाजिक न्याय की बात तो दूर। लोग कहते हैं कि *मिर्चों की धूनी से भूत भागता है लेकिन मिर्चों की धूनी में ही अगर भूत घुस जाए, तो भूत भला कैसे भागेगा?* इस जातीयता के भूत की हद तो ये है कि हर पुलिस चौकी में जाति के आधार पर मेस बने हुए

हैं यानी राजपूत, भूमिहार, ब्राह्मण के मेस अलग, पिछड़ों के अलग और अल्पसंख्यकों व दलितों के लिए अलग-अलग। अब तो हर पुलिस चौकी में एक-एक मंदिर भी बनना शुरू हो गया है। यह धर्म निरपेक्षता का अच्छा-खासा मज़ाक है। हजारीबाग में तो न सिर्फ एस. पी. के नेतृत्व में बल्कि पुलिस वर्दी में, पुलिस जीप में ले जा कर पीर की मज़ार पर चादर चढ़ाई जाती है और शिवरात्रि के दिन पुलिस वर्दी में शिवजी का जुलूस भी निकलता है। तब धर्म-निरपेक्षता और जातिविहीनता की बात कैसे हो सकती है? हमारे बड़े-बड़े नेता अब तो खैर भाजपा के धर्मावलंबी हिन्दुत्ववादी लोग सरकार में हैं, वे ऐसा करें तो कोई आश्चर्य नहीं लेकिन धर्म-निरपेक्ष इंदिरा गाँधी भी रुद्राक्ष की माला पहनकर मंदिरों में दर्शन करने प्रधानमंत्री के तमाम ताम-झाम के साथ जाती थीं और नरसिंह राव भी उसमें पीछे नहीं रहे इसे कैसे हजम किया जाए? किस प्रकार इस पर बहस चलाई जाए?

एक बात तो माननी होगी की लालू प्रसाद ने दलितों और पिछड़ों में हीन-भावना को मिटाकर आत्मसम्मान और आत्मगौरव की जो भावना भरी है, उससे भी दबी-पिछड़ी जनता में जुल्म के खिलाफ लड़ने का हौसला बढ़ा है। यह अलग बात है कि लालू प्रसाद यदि गंभीरता से भूमि-सुधार के मुद्दे को लेते तो भूमिहीनों में ज़मीनें बाँटकर भूमि-सुधार कानून लागू कर के, बिहार के लाखों लोगों को रोजगार दे सकते थे। वे चाहते तो बिहार के लोगों को रोजगार की खोज में अपने राज्य से बाहर जाकर भटकने से बचा सकते थे। इस प्रकार भूमिहीनों को अपनी जमीन होने का एहसास देकर जमींदारों के खिलाफ मोर्चेबंदी के समय उनके द्वारा काम न दिए जाने पर वे उन्हें भुखमरी से बचा भी सकते थे, ठीक वैसे ही जैसे कपूरी ठाकुर जी ने 'काम के बदले अनाज' देकर खेतिहर मजदूरों को अपने संघर्ष के लिए एक मजबूत आधार दिया था। उसी प्रकार भूमिहीनों और सीमांत किसानों को जोतदार की पहचान देकर वे एक मजबूत आधार दे सकते थे। वे चाहते तो हदबंदी से फ़ाजिल जमीनों को बेनामी खातों से निकाल कर वे उत्पादक शक्तियों का विकास कर, बिहार के उन क्षेत्रों को विकसित कर सकते थे, जहाँ जनता केवल जमीन पर आधारित है, जहाँ कोई उद्योग भी नहीं है। लेकिन लालू प्रसाद से बहुत अपेक्षा करना उचित नहीं लगता चूँकि वे एक बुर्जुआ या अर्धबुर्जुआ पार्टी के नेता हैं, जिसमें भीतरी विरोध भी होते हैं। लालू प्रसाद जब मुख्यमंत्री थे तो उन्होंने हर किसान को ज़मीन की पासबुक देने की घोषणा की थी। यदि इस घोषणा को राबड़ी सरकार लागू कर देती तो भी नरसंहारों को समाप्त किया जा सकता था। जमीन का आधार मिलने पर दलितों में आत्मसम्मान और स्वाभिमान की प्रक्रिया तेजी से विकसित होने की संभावना बढ़ जाती है। यह स्वाभिमान के विकास की प्रक्रिया ही सामंती सवर्ण दंभ एवं अहम की सक्षम और पुख्ता काट होगी।

## द्वार पर प्रतिक्रांति आ खड़ी हुई है

सन् 1998 के लोक सभा चुनाव में एक बात तो सिद्ध हो ही गई कि भारतीय राजनीति और साथ-साथ भारतीय धर्मपरायण मानस के लिए अब भ्रष्टाचार कोई मुद्दा नहीं है सत्ता और व्यवस्था तंत्र ने सिद्ध कर दिया है कि भ्रष्टाचारी होना कोई विधिक अपराध नहीं। दूसरी बात जो उभरकर सामने आई वह यह कि सत्ता में आने के लिए जो राजनीतिक दल चरित्र, अनुशासन और निष्पक्षता की बात करते हैं वे समूचे मानदंड तोड़कर सत्ता में किसी भी हद तक बने रहने के लिए किसी भी स्तर तक गिर सकते हैं और कुर्सी पर बने रहने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। तीसरा मुद्दा जो उभरा है वह यह कि अब जनता को किसी एक पार्टी की सरकार स्वीकार्य नहीं है। आज जनता मोर्चों की सरकार को स्थिरता से चलाए जाने की अपेक्षा रखती है और अगर वे आपे से बाहर हो जाएँ तो उनकी लगाम खींच लेने की ताकत अपने हाथ में ही रखना चाहती है।

इस लोकसभा चुनाव में हमने हाथी के सुंदर दिखने वाले दाँत खूब देखे थे और उन्हें सराहा भी था। अब हाथी के खाने वाले दाँतों ने अपनी हरकत शुरू कर दी है। उसका पहला घोषित कदम है आने वाले लोकसभा के सत्र में पेट्रोलियम उत्पादों का दाम बढ़ाकर आम आदमी की सुविधाओं को निगलना। जैसे तो अघोषित रूप से ये प्रक्रिया चुनाव के तुरंत बाद ही शुरू हो गई थी जब आलू आठ रुपये, सरसों तेल पचास रुपये किलो बिकने लगा रही-सही कमी परमाणु बम विस्फोट के बाद रुपये का मूल्य घटने में पूरी हो गयी। हम अपने देश के उन वैज्ञानिक बंधुओं का अभिनंदन करते हैं। जिन्होंने अपने बलबूते पर बम का विस्फोट करने में तो सफलता पायी ही, साथ ही उन्होंने दूसरी खबर कानों-कान किसी को भी नहीं होने दी, यहां तक कि अमेरिका के तकनीकी उपकरण और गुप्त एजेंसियां वहाँ भी मात खा गईं। इसके लिए हमारे वैज्ञानिक बंधु धन्यवाद के पात्र हैं और देश को उन पर गर्व है।

इस बीच देश में बड़े पैमाने पर बदलाव आया लेकिन यह बदलाव खतरे का संकेत दे रहा है कि 'प्रतिक्रांति' सबल हो रही है। तानाशाही अँगूठा पकड़कर पांचा (पैजामे की मोहरी) पकड़ चुकी है। बस घर में घुसने ही वाली है। असली एजेंडा का विस्फोट हो चुका है। हमारा देश अब महँगाई, बेरोज़गारी की मार तले

और अधिक दबता चला जा रहा है। धर्म के नारे की तरह अब राष्ट्रप्रेम या राष्ट्ररक्षा की आड़ में, जनता की भावनाओं को असली मुद्दों से मोड़ने की मुहिम चलाई जाने लगी है। विश्व में दिनों-दिन बढ़ रही हथियारों की होड़ को हमने तीव्र झोंका देकर सुलगाने का काम किया है। राष्ट्र स्तर पर भी विकास की कीमत, शिक्षा की कीमत तथा कृषि और कल्याण की कीमत पर यानी जन साधारण के जीने की सुविधाओं की कीमत पर सुरक्षा का खर्च बढ़ेगा। साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ ऊपर-ऊपर गुस्सा का नाटक करते हुए, भीतरी समझौता होगा और उनके दुश्मनों, विशेषकर अमेरिका पर भारत के कंधे पर बंदूक रखकर निशाना साधा जाएगा। हिन्दू बम का जवाब इस्लामिक बम देगा युद्धस्थल होगा एशिया महाद्वीप उसका सूत्रधार होगा भारत स्वार्थ सधेगा साम्राज्यवादियों का। वैश्विक माहौल और गर्म होगा।

धर्म और मजहब के विषधर लेकर घूमने वाले ये सत्तासीन सपेरे, अब शक्तिशाली होकर आ गए हैं और आम आदमी के दिमाग को डंसने के लिए विषधरों को खुले में छोड़ रहे हैं। विज्ञान का इस्तेमाल भारतीय जनता को विवेकशील व तर्कशील बनाने के लिए नहीं बल्कि उसका इस्तेमाल अब योजनाबद्ध तरीके से अंधविश्वास फैलाने के लिए, चमत्कारिक शक्तियों से भरमाने के लिए किए जाने के संकेत मिल रहे हैं। दूरदर्शन के 'जय हनुमान', 'ॐ नमोः शिवायः' कई रूपों में प्रकट होकर जनता को केवल राम नाम जपकर या शिव की आराधना करके ही सब कुछ हासिल करने का गुरुमंत्र देंगे। 'श्रम मत करो जाप करो सब हासिल होगा' का उपदेश हमें पहले ही परजीवी बना चुका है पंगु बना चुका है अब शायद जड़ बना दे।

दरअसल, परमाणु बम का बनना या विस्फोट किया जाना केंद्र में भाजपा की सरकार बनने के कारण नहीं हुआ। इसे तो भारत-सुरक्षा की नीतियों के तहत एक समय-निर्धारित कार्यक्रम के अनुरूप किया ही जाना था, भले कोई भी सरकार होती या आती। फर्क केवल इतना है कि यदि वाजपेयी सरकार न होकर ये किसी और पार्टी अथवा अन्य मोर्चे की सरकार होती, तो ये विस्फोट ज़रूरत होने पर ही किए जाते। इसका राजनीतिकरण नहीं किया जाता। खट्टी देहाती भाषा में कहें तो इसे 'भांजने' के लिए नहीं किया जाता। दरअसल, परमाणु बम के विस्फोट से ज्यादा वाजपेयी सरकार ने इसे राजनीतिक बम के विस्फोट का रूप दे दिया और वाह-वाही लूटने के लिए एक पत्रकार सम्मेलन के माध्यम से देश की सुरक्षा के उस गुप्त रहस्य को उजागर कर दिया, जिसे 'स्टेट्समैनशिप' के तहत गुप्त रखा जाना चाहिए था। दरअसल यही सब तो जनता को बढ़ती महंगाई, छटनी और फसलें नष्ट होने के कारण किसानों द्वारा की जाने वाली आत्महत्याओं, भुखमरी, बेरोजगारी आदि ज्वलंत मुद्दों से ध्यान हटाने की सोची-समझी चालें हैं। हमें



इससे सतर्क होना है और जनता को सावधान करना है।

प्रतिक्रांति द्वार पर आ खड़ी हुई है हमें देखना है वह घर पर स्थायी कब्जा न कर ले। हमें आगे भी संघर्ष के लिए अभी से तैयार रहना है। तानाशाही ने खेत में बीहन छींट दिया है। हमें तो अब तत्काल अंकुर फूटने से पहले खेत को फिर से जोत देने के लिए तैयार होना पड़ेगा ताकि तानाशाही की पौध तैयार न हो पाए!

## स्वाधीनता के पचास साल : आंखों में आंसू भी, होठों पर मुस्कान भी

आजादी! आजादी! आजादी! एक विचित्र अहसास चालीस करोड़ लोगों के मन को गुदगुदा गया था 14-15 अगस्त सन् 1947 की रात ठीक 12 बजे! अंग्रेजों से मुक्ति का जश्न!

बँटवारा! बँटवारा! बँटवारा! देश का बँटवारा! भारत का बँटवारा! एक तेज नश्वर चीर गया था भारतीय जन-मानस को! भूगोल बदल गया था। भूचाल धरती पर नहीं बल्कि मन में आया था। हज़ारों-हज़ार, लाखों-लाख अदलते-बदलते लोग! बूढ़े, बच्चे, औरतें, नौजवान डरे-सहमें, बुझे-बुझे! नए शहर, नए गाँव, नई पगडंडियाँ, नई नदियाँ! सतलज और व्यास भागी थी रावी, चिनाव और जेहलम की तरफ! जेहलम, रावी, चिनाव दौड़ी सतलज और व्यास की तरफ! ढाका कलकत्ता के फुटपाथ पर कलकत्ता ढाका की सड़कों के किनारे फटेहाल!

लाशों की अदला-बदली! कई ट्रेनें लाहौर से अमृतसर सरकटी लाशों से लदकर आईं, तो बदले में कई-कई ट्रेनें अमृतसर से लाहौर पेटचिरी लाशों की गईं! बाघा का बार्डर लोगों की हत्या का बधस्थल बन गया! 14-15 अगस्त की रात निर्दोषों की हत्या का मातम का दिन बन गया! चारों तरफ था एक भयंकर विरोधाभास के माहौल का मंजर!

खैर! पचास बरसों की यात्रा तय कर ली है आजादी ने। लोकसभा में 14-15 अगस्त, 1947 की रात के जश्न को पुनः घटित करने का भी प्रहसन हुआ है! अजादी के वीर बांकुरों की जीवित बची-खुची बूढ़ी पीढ़ी, जिसने कभी अंग्रेजों के छक्के छुड़ाए थे, उन यादों को जिंदा किया दोहराया सुनाया... कहीं इकट्ठे होकर, तो कहीं किसी शहीदों की मज़ार पर दिया जलाकर। कई मजारें बिना दिया-बाती अंधेरे की गर्त में ही डूबी रहीं। इस स्वर्ण-जयंती के समय भी, किसी ने उन्हें याद तक नहीं किया।

कई लोगों ने उन बलिदानों-कुर्बानियों की बेहद जोखिम भरी दास्तानों के नाटक खेले, जिन्हें देख सुन कर, सुनने और सुनाने वाले, देखने और दिखाने वाले, दोनों की अचरज और गौरव से रोशन होती आँखों में और उत्तेजना से लाल हुए चेहरे पर छप गया था 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का नारा! शहर रोशनी से जगमगाए कई

जेलों पर बल्ब जल-जल कर बीती यादों को रात भर जलाते रहें, झोंपड़पट्टियों में भी बहुतांश ने तिरंगा फहराया, मिठाई खाई, लेकिन बोरों में टूटे डिब्बे और प्लास्टिक भरते बच्चे नहीं जान पाए मिठाई बँटने का कारण!

इन पचास बरसों में कौन-से मंजर हर दशक में बार-बार उभरे? आजादी के एहसास के, बलिदान, जोखिम या कुर्बानी के, अथवा बंटवारे की विरासत में मिली सांप्रदायिकता और तनाव के? भले लोकसभा में हमने 14-15 अगस्त की रात को मुक्ति-प्रहसन कर लिया और कुर्बानी की यादों को भी ताजा और जिंदा किया लेकिन क्या इस हर दशक में कई-कई बार देश के किसी-न-किसी हिस्से में धार्मिक उन्माद, सांप्रदायिक तनाव, हत्या, अविश्वास का मंजर हमने बार-बार दुहराते नहीं देखा? क्या वैसा ही विस्थापन भले देश के पैमाने पर न हुआ हो कई-कई बार नहीं हुआ? क्या गाँव से शहर, शहर से दूसरे शहर का विस्थापन थमा? आजादी के दिन मुक्ति के साथ-साथ बँटवारे से मिली घृणा की विरासत को, क्या हमारे रहनुमाओं ने मिटाने की कोई सार्थक पहल की? इसकी पड़ताल की जाए तो निराशा ही हाथ लगेगी। पहले यह घृणा दो धर्मों में थी यानी हिन्दू और मुसलमान में, जिसके लिए हम अंग्रेजों को जिम्मेवार ठहराकर मुक्ति पा लेते थे। किंतु अपने देश में अपने ही राज-पाट में, अपने ही रहनुमाओं के होते हुए यह घृणा हिन्दू और सिख में भी व्याप गई। एक बहादुर, देशभक्त और वफादार कौम पर, जिन भी कारणों से हो, इन पचास वर्षों की यात्रा में उनका विध्वंस और विस्थापन एक प्रश्न-चिह्न लगा दिया गया।

एक और अंतर आया। आजादी से पहले तक अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता की चर्चा होती थी जिसे देश के बँटवारे के लिए जिम्मेवार भी ठहराया जाता था। इन पचास वर्षों में हमारे रहनुमाओं की गलतियों से हिन्दुत्ववाद के नाम से उभर आई। उसने बहुसंख्यक सांप्रदायिकता हिन्दूवाद को राष्ट्रवाद का पर्याय बना दिया कि बाबरी प्रकरण घट गया। देश में बोए गए नफरत के बीज, पौध बनकर लहलहाने लगे...हम विकृतियों की फसलें काटने लगे।

इधर हाल ही में एक और अंतर आया। वामपंथ का एक अति उत्साही खेमा वर्ग-दुश्मनों या उनके मददगार दलालों के नाम पर, गरीबी-रेखा से नीचे के तबके के लोगों और 'पेटी-बुर्जुआ' जमात की हत्याएं करने पर तुला है। किसी बड़े ज़मींदार या पूँजीपति की हत्या नहीं करता। कहीं-कहीं तो इनके दो दल आपस में ही खून की होली खेलकर मर रहे हैं और वर्ग-दुश्मन के हौसले बुलंद कर रहे हैं। चतरा (बिहार) के दूर-दराज के गांवों में चालीस लोगों का नरसंहार इन अति उत्साही वामपंथियों के वर्चस्व की लड़ाई का नतीजा है, जो किसी नतीजे पर नहीं पहुँचाएगी। वर्चस्व की इन लड़ाइयों से देश कहाँ पहुँचेगा अथवा बदलाव या क्रांति कैसे घटेगी यह एक अहम् सवाल है। क्या यह देश के रहनुमाओं की छोटा नागपुर की इन वादियों के प्रति घोर उपेक्षा भरी नीतियों का प्रतिफल नहीं है? जो कल तक महाजनी और जमींदारी जुल्म

के तहत पिस रहे थे, आज आजाद शासन की चक्की में पिस रहे हैं। आज उनके हाथ में जो बंदूकें हैं वे किसी और ने नहीं सरकार ने थमाई हैं। पाँच हजार वर्ष से चली आ रही दो मापदंडों वाली संस्कृति, जिसका हम बखान करते थकते नहीं थे, हमने संविधान में भले भेदभाव से परिपूर्ण विषदंतों को उखाड़ने का कानूनी प्रावधान कर दिया गया था लेकिन हमारा रहनुमा (जन-प्रतिनिधि) तथा बुद्धिजीवी-वर्ग देश के जनमानस को सामाजिक न्याय की ज़रूरत का एहसास करवाने में असफल रहा। ये इच्छा-शक्ति की कमी के कारण ही हुआ। उसी का नतीजा है कि आज पचास वर्षों बाद भी हमारे संविधान निर्माता डॉ. भीमराव अम्बेडकर जिन्होंने करोड़ों लोगों को मनुष्य होने का एहसास दिलाया, बोलने के लिए प्रेरित किया और आत्म-सम्मान, स्वाभिमान के साथ जीने के लिए शिक्षित, संघर्षरत और संगठित होकर जिंदा रहने की प्रेरणा दी, की मूर्ति को हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिक तानाशाह और जातीय अहमवादी शक्तियों ने अपमानित किया और करोड़ों लोगों की भावना को ठेस पहुँचाई। साथ-ही-साथ उन्होंने एक अहम् भरी धमकी भी दी “देखो हम बराबरी की माँग करने वालों के साथ क्या सलूक करते हैं!”

आजादी के पचास वर्षों बाद भी भारतीय जन मानस को हम बदल नहीं पाए। ग्रामीणों की बात तो छोड़ दीजिए, शहरों में अपने को बुद्धिजीवी कहलाने वाले आधुनिक लोग, खाते-पीते, समृद्ध, संपन्न पढ़े-लिखे लोगों की मानसिकता में भी 16वीं शती की बर्बरता कायम है। क्या यह हमारे लिए शर्म की बात नहीं?

अपने संविधान में उन्हें वोट का समान अधिकार और मेहनत के लिए समान मजदूरी, रोजगार के लिए समान अवसर देकर प्रदर्शित कर दी है और हिन्दू कोड बिल में पूरा तो नहीं थोड़ा बहुत सुधार कर महिलाओं को कुछ अधिकार भी दिए हैं लेकिन अल्पसंख्यक सांप्रदायवाद से डरकर शाहबानों की जीती हुई बाजी को केवल सत्ता में बने रहने के लिए हमारे रहनुमाओं ने हरवा भी दिया। क्या ये हमारे लिए शर्म की बात नहीं।

इतना ही नहीं हमने वोट की बराबरी और जनतंत्र को सुरक्षित रखते हुए भले ही एक महिला प्रधानमंत्री, चार महिला मुख्यमंत्री, उसमें भी एक दलित महिला मुख्यमंत्री हासिल कर लीं, जो सचमुच अब तक की हमारी उपलब्धि हैं। हम विश्व को कह सकते हैं कि ‘देखो इस इक्कीसवीं सदी में हमारे जनतांत्रिक मान्यताओं और महिलाओं के विकास के जीते-जागते उदाहरण! पर क्या हमने इसी इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर पहुँचने से पहले ही आठवें-नवें दशक में एक रूपकुँवर क्या कई-कई रूपकुँवर जैसी सतियाँ पैदा नहीं की? आज भी हमारे समाज में न्यायपालिका सती होने को हत्या नहीं मानती। इसलिए उसे रूपकुँवर के हत्यारे नज़र ही नहीं आते। शंखों की आवाज़ और नारियलों की ताबड़तोड़ मार से रूपकुँवर की चीखों को गुम कर बेहोश करने वाले बीस-पचीस लोगों को भी न्यायपालिका देख नहीं पाती। और तो और आज भी जनता उस सती स्थल पर पूजा करती है। क्या ये हमारे लिए शर्म की बात नहीं।

हमारे यहाँ एक नहीं अनेक अमीना पैदा हुई हैं जो बचपन में ही बेच दी गई हैं। हमारे यहाँ आज भी कई भंवरी बाइयाँ बलात्कार की शिकार होती हैं, पर न्यायपालिका मनु की व्यवस्था का पूर्णतया पालन करते हुए अभियुक्तों को निर्दोष करार कर देती है बस यह कह कर कि 'भंवरी' शूद्र थी! स्वर्ण उनका बलात्कार कर ही नहीं सकता! क्या यह कार्यपालिका और न्यायपालिका के लिए शर्म की बात नहीं?

यह सही है कि हमने विदेशियों से मुक्ति पाई, यह भी सही है कि हमने जनतंत्र को बरकरार रखा, जबकि हमारे इर्द-गिर्द के कई देश तानाशाह और सैनिक शासन की गिरफ्त में कई-कई बार आए। यह प्रगति का निश्चित चिह्न है। यह भी सही है कि हमने भौतिक तरक्की की, आर्थिक उन्नति की, जिसके बारे में कहा जाता है कि चालीस करोड़ से बढ़कर 95 करोड़ हो गई आबादी उस प्रगति को हड़प गई। ये बात आंशिक रूप से सत्य ज़रूर है लेकिन बढ़ती आबादी के साथ-साथ बढ़ते हुए बोफोर्स, हर्षद, चीनी, हवाला, अलकतरा घोटाले आदि भ्रष्टाचार के दैत्य भी बढ़े जो हमारे रहनुमाओं के वेश में कर्ता-धर्ता थे। क्या वे सब समृद्धि हजम नहीं कर गए? नैतिक मूल्यों का ये पतन ऊपर से लेकर नीचे तक फिल्टर होकर देश की रग-रग में ऐसा फैल गया है कि आज जनमानस या तो ईमानदार आदमी को बेवकूफ, बुद्ध और गधा मानने लगा है और भ्रष्टाचार को चालाकी और 'स्मार्टनस' का पर्याय मानकर भिन्न-भिन्न प्रकार से धन कमाने और करोड़पति कहलाने का सपना पालने लगा है अथवा निराश होकर देश के नेतृत्व को चोर मानने लगा है। वह विमुख या तटस्थ हो रहा है। यह तटस्थता अथवा अविश्वास की स्थिति देश के लिए बहुत ही खतरनाक है। कई जगह लोग ये कहते भी सुने जाते हैं कि इस राज से तो अंग्रेजों का राज अच्छा था। आज चंद (वामपंथी) पार्टियां छोड़कर, देश की कोई भी पार्टी भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं हैं। आज 'नेता' शब्द चोर और सरकारी डकैत का पर्याय बन गया है। क्या यह देश के लिए शर्म की बात नहीं है?

यह भी सही है कि हम शुरू में 'जय जवान-जय किसान' के नारे के साथ स्वावलंबन की ओर बढ़े थे और अनाज में स्वावलंबी हो गए थे। अन्न के भंडार लग गए थे। पर स्वर्ण जयन्ती वाले साल के दशक में ही हम पुनः अनाज का आयात भी कर रहे हैं। हम जो कभी सोने की चिड़िया थे आजादी के बाद कोहिनूर तो वापस नहीं ले सके हम सोना भी गंवा बैठे! कर्ज की बहियों से भर गई है हमारी तिजोरी। हमने आजादी के बाद नेहरू जी की शब्दावली के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र के रूप में 'विकास के नए मंदिर' खड़े किए थे। वह पनपे और बढ़े। अरबों रुपए उनमें लगे। हज़ारों लोगों ने रोजगार पाया लेकिन आज इन 'विकास के मंदिरों' को हम विदेशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हवाले कर रहे हैं! क्यों? आज इस आजादी की पचासवीं वर्षगांठ पर हम किसका जश्न मना रहे हैं? ईस्ट इंडिया कंपनी के नाम से देश में आई फिरंगी कंपनी के प्रतिनिधि के राजपाट की समाप्ति का या ईस्ट इंडिया कंपनी से कई गुणा बड़ी कई-कई

कंपनियों को अपने देश में न्योत लाने का? हम आज गर्व से उन्हें बुलाते हुए कहने लगे हैं, “आइए हमारी गरीबी दूर कीजिए हमें रास्ता दिखाइए प्रभु!”

हमने एक दलित राष्ट्रपति पाया है, यह हमारे लिए गौरव की बात है। उन्हें दलित राष्ट्रपति कहा जाता है ऐसा क्यों? आज भी हमारे देश में घोड़ी पर चढ़ने पर दलित दूल्हे की पिटाई होती है। होली खेलने के नाम पर दलित टोले जलाए जाते हैं। हक मांगने पर दलित औरतें नंगी घुमाई जाती हैं। राजस्थान में कुम्हेर तथा बिहार में बेलची और झारखण्ड में हेंदेगड़ा घटा। मद्रास (अब चेन्नई) में स्कूल के घड़े से पानी पीने पर एक दलित लड़की की आँखें फोड़ दी गई। क्या हम सामाजिक बदलाव की तरफ एक कदम भी नहीं बढ़ पाए। क्यों? क्या इसके लिए हम शर्म के पात्र नहीं हैं?

एक चीज़ ज़रूर हुई है कि इस विरोधाभास में भी इन सांप्रदायिक, जातिवाद, पुरुषवादी, मनुवादी, तानाशाही, हिन्दुत्ववादी, इस्लामवादी या किसी भी धर्मवादी शक्ति के मुकाबिल कुछ जमातें, कुछ वर्ग भले अलग-अलग ही क्यों न हों, एक चिंगारी बनकर ज़रूर सुलग उठे हैं। अब दलित मजदूर, किसान चूहों की तरह नहीं मरते बल्कि सीना तानकर मुकाबला करते हुए मरने लगे हैं। वे थोपी गई जाति से आगे बढ़कर जमात बन रहे हैं चाहे वे मुम्बई (अब मुंबई) की सड़कों पर बाबा साहेब के अपमान का विरोध करती जमात हो या बिहार की बस्तियों में वास्तविक मजदूरी पाने के लिए खेतिहर मजदूरों की जमात! बलात्कार के विरोध में खड़ी होती फूलन देवी हो या भँवरीबाई अथवा देओल बजाज! सामाजिक न्याय के लिए उभरती दलितों और पिछड़ों की संगठित होती जमात हो या बिहार, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश में भूमिहीन किसानों की हथियारबंद जमात! इनकी उपस्थिति जुगनुओं सी अन्धेरे तो तोड़ती है। निराशा और आशा के बीच लटके हुए हम आजादी की पचासवीं वर्षगाँठ, गम और खुशी के साथ मना रहे हैं। सन् 1947 और 1997 में कितना पाया, कितना खोया, 15 अगस्त को कूड़े से टूटे डिब्बे और प्लास्टिक चुनते हुए बच्चों से पूछो, जिनके लिए यह जश्न बँटती हुई मिठाई खाने के अलावा बेमानी है! ये अभी भी कूड़े से रोटी चुनते हैं। पुरानी कविता की एक कड़ी याद आ रही है “आँखों में आँसू भी मेरे/ होठों पर मुस्कान भी।”

आओ, अगले पचास वर्ष की यात्रा में हम आँसुओं को पोंछने का मुस्कुराहट बाँटने का, बिखेरने का संकल्प लें और मूल्यों को मानवता की परिभाषा दें। विकास को कागज़ों और आँकड़ों से निकालकर ज़मीन पर उतार देने की मुहिम चलाएँ संकल्प लें कि जड़ता तोड़ेंगे बदलाव लाएंगे!